समकालीन हिन्दी उपन्यासों में विस्थापितों का यथार्थ

(SAMAKALEEN HINDI UPANYASOM MEIN VISTHAPITOM KA YATHARTH)

Thesis
Submitted to
Cochin University of Science and Technology

For the degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY
In
HINDI
Under the Faculty of Humanities

By
रूबी एलसा जेकब
RUBY ELSA JACOB

Supervising Teacher
Dr. K. Vanaja

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLO[
KOCHI - 682 022

MARCH 2010

Certificate

This is to certify that the research work presented in the thesis entitled "**SAMAKALEEN HINDI UPANYASOM MEIN VISTHAPITOM KA YATHARTH**" is an authentic record of research work carried out by **RUBY ELSA JACOB** under my supervision at the Department of Hindi, Cochin University of Science And Technology, in partial fulfillment of the requirements for the degree of DOCTOR OF PHILOSOPHY in HINDI and that no part thereof has been included for the award of any other degrees.

Dr. K. VANAJA
Dept. of Hindi
Cochin University of Science
And Technology
Kochi - 22

Place : KOCHI - 22
Date : 30 - 03 - 2010

Declaration

I hereby declare that the thesis entitled "**SAMAKALEEN HINDI UPANYASOM MEIN VISTHAPITOM KA YATHARTH**" is the bonafide record of the original work carried out by me under the supervision of **Dr. K. VANAJA** at the Department of Hindi, Cochin University of Science And Technology and no part thereof has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree.

RUBY ELSA JACOB

Dept. of Hindi

Cochin University of Science

And Technology

Kochi - 22

Place : KOCHI - 22

Date : 30 - 03 - 2010

मेरी स्वर्गीय नानी

की यादों के सामने

सादर समर्पित ....

विषयसूची

पहला अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास का परिदृश्य। **1 - 47**

हिन्दी उपन्यास का विकास - समकालीनता - आधुनिकता - समकालीनता और आधुनिकता का अंतःसंबन्ध - हिन्दी उपन्यास के विकास क्रम में आधुनिकता और समकालीनता - समकालीन हिन्दी उपन्यास का परिदृश्य - समकालीन उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भ - समकालीन उपन्यास में सांस्कृतिक मूल्यों के बिखराव और टकराहट का चित्रण - पारिस्थितिक शोषण पर आधारित समकालीन उपन्यास - समकालीन हिन्दी उपन्यासों में भूमण्डलीकरण और बाज़ारीकरण - समकालीन उपन्यास में गाँधी चिन्तन - समकालीन उपन्यास में ऐतिहासिकता - समकालीन उपन्यास में आँचलिकता - समकालीन उपन्यास में दलित विमर्श - सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पतन पर आधारित समकालीन उपन्यास - समकालीन उपन्यास में विस्थापन का यथार्थ - समकालीन उपन्यास में जन जाति का चित्रण - प्रवासी समस्याओं का खुला चित्रण करने वाले समकालीन उपन्यास - समकालीन उपन्यास में स्त्री विमर्श

दूसरा अध्याय

विस्थापन - इतिहास एवं स्वरूप **48 - 127**

विस्थापन का ऐतिहासिक आख्यान - विस्थापन के प्रकार और कारण-तत्व - विस्थापन की परिभाषा - विस्थापन

के विविध रूप - विस्थापन की कारणीभूत विकास योजनाएं - विस्थापन के अनुपात - विस्थापन के विविध रूपः भारतीय संदर्भ में - विस्थापितों में जनजाति समूह - भारतीयों के अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन : इतिहास और वर्तमान समस्याएं - प्रवासी भारतीयों का इतिहास - गिरमिटिया मज़दूरों का इतिहास - मॉरीशस की गिरमिटिया - अन्य देशों के गिरमिटिया मज़दूर - प्रवासी भारतीयों की समस्याएं - प्रवासियों की समस्याएं - वर्तमान परिप्रेक्ष्य में - भारत विभाजन से उत्पन्न विस्थापनः पृष्ठभूमि और विस्थापितों का जीवन यथार्थ - भारत विभाजन का इतिहास - विभाजन से विस्थापित लोगों का जीवन यथार्थ - स्वतंत्र भारत में मुसलमानों की अवस्था - शरणार्थियों और मुहाजिरों की समस्याएं - विकास योजनाओं से हो रहे विस्थापनः भारतीय जनजातियों के विशेष संदर्भ में - जनजातियों का इतिहास - विस्थापितों में जनजाति वर्ग - विस्थापित जनजातियों के जीवन यथार्थ

तीसरा अध्याय
समकालीन हिन्दी उपन्यास में भारतीयों का अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन। **128 - 160**

गिरमिटिया मज़दूरों का जीवन संघर्ष - प्रवासी भारतीयों की गुलामी - नस्लवाद एवं रंगभेद के शिकार बने भारतीय प्रवासी - साँस्कृतिक टकराहट और प्रवासी भारतीय - प्रवासी भारतीय और रिश्ते नाते की शिथिलता

चौथा अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास में भारत विभाजन से उत्पन्न विस्थापन। **161 - 231**

विभाजन की पृष्टभूमि - विभाजन की त्रासदी - समकालीन हिन्दी उपन्यास में विभाजन की विभीषिकाएं - भारत विभाजन और तत्कालीन नारी की त्रासदीय जीवन - शरणार्थियों तथा मोहाजिरों की समस्याएं - शरणार्थियों की समस्याएं : समकालीन उपन्यासों में - मोहाजिरों की समस्याएं : समकालीन हिन्दी उपन्यासों में - स्वतंत्र भारत में मुसलमानों की अवस्था - समकालीन हिन्दी उपन्यासों में चित्रित स्वतंत्र भारत के मुसलमानों की स्थिति - सामाजिक व आर्थिक स्थिति - पारिवारिक स्थिति

पाँचवाँ अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास में विकास योजनाओं से उत्पन्न विस्थापन। **232 - 284**

जनजाति और उनकी समस्याएँ - विकास कार्यक्रम और भारतीय जनजाति - भारतीय जनजातियों का विस्थापन - समकालीन हिन्दी उपन्यासों में विस्थापित जनजातियों का चित्रण - समकालीन हिन्दी उपन्यास में विकास हेतु उत्पन्न जनजाति विस्थापन

उपसंहार **285 - 293**

संदर्भग्रन्थ सूची **294 - 313**

प्राक्कथन

मानव जीवन के सूक्ष्म एवं जटिल यथार्थ, साहित्यकार को शक्ति प्रदान करता है तथा उसे जीवन के प्रति अनुरक्त करता है। इसी यथार्थ की प्रखर अभिव्यक्ति है, साहित्य। बहुत सारी प्रतिकूलताओं के बीच फँसा मानव, जीने के संघर्ष में लगा हुआ है। जीवन की समस्त विसंगतियों के बीचोबीच खड़े मनुष्य के यथार्थों को अपनी विविध विधाओं में समेटकर उद्‌घोषित करने में साहित्य ने सफलता हासिल की है। काल-प्रवाह के साथ-साथ साहित्य-संबंधी अभिरुचि में भी बदलाव आया है। परिणामतः साहित्य के नये रूप तथा शैलियों का उदय हुआ। इसी विकसित साहित्य रुप का एक सशक्त विधा है, उपन्यास।

कोई भी साहित्यिक कृति सामाजिक जीवन से अलग होकर सार्थक नहीं बन सकती। साहित्यकार की निजी विचारधारा सामाजिक परिवेश से प्रेरित एवं प्रभावित रहती है। आधुनिक जीवन के जटिलतर यथार्थ की अंदरूनी हक़ीकतों को उसकी पूरी जैविकता के साथ संप्रेषित करने की क्षमता, एक साहित्यिक विधा के रुप में उपन्यास को प्राप्त है। उपन्यास, सामाजिक यथार्थ का अविकृत दर्पण होता है। समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने साहित्य को जीवन के परिपार्श्व और सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में रखकर परखने का प्रयत्न किया है। उपन्यासकारों ने सच्चाई के समायोजन के साथ मानवीय क्षमता का उन्नयन किया है।

समकालीन हिन्दी उपन्यास में सम्मिलित वर्तमान समस्याओं में

विस्थापन का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि आज मानव ऐसे समय में जी रहे हैं जहाँ हर कदम पर उन्हें मानसिक तथा शारीरिक विस्थापन का दर्द सहना पड़ रहा है। मूलतः अपने जन्मस्थान से नये जगह की ओर प्रस्थान की प्रक्रिया ही विस्थापन है. लेकिन वर्तमान संदर्भ में राजनीतिक अभियोग आंतरिक कलह पारिस्थितिक पदावनति विकास योजनाओं के कारण ही लोगों के स्थानांतरण अधिक होते हैं। बीसवीं शताब्दी की एक कारुणिक परिघटना के रुप में विस्थापन के अनेक आयाम समकालीन हिन्दी उपन्यासों का विषय बने हैं। मानव जीवन के विभिन्न रूपों को आधार बनाकर विस्थापन का उदात्त स्वरूप प्रस्तुत करने में समकालीन उपन्यास सक्षम रहा है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों के ज़रिए विस्थापन के विविध आयामों पर प्रकाश डालने का मेरा छोटा सा प्रयत्न है यह शोध प्रबन्ध। मेरे शोध प्रबंध का विषय है समकालीन हिन्दी उपन्यासों में विस्थापितों का यथार्थ। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय विस्तृत एवं नूतन है। कम से कम पृष्ठों में इसका प्रतिपादन संभव नहीं। अध्ययन के लिए सामग्री प्राप्त करने में भी कठिनाई हुई। फिर भी मेरा विश्वास है कि मैंने विषय से यथासंभव न्याय करने की चेष्टा की है।अध्ययन की सुविधा के लिए मैंने इसे पाँच अध्यायों में विभक्त किया है।

पहला अध्याय है समकालीन हिन्दी उपन्यास का परिदृश्य। इस अध्याय में हिन्दी उपन्यास की विकास - प्रक्रिया का ऐतिहासिक उल्लेख करते हुए समकालीन हिन्दी उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा की

गयी है। औद्योगिक क्रान्ति के संवाहक के रुप में उपन्यास का उदय हुआ। हिन्दी उपन्यास के विकास का संक्षिप्त विवरण देने के साथ उसकी विशेषताओं तथा तत्वों पर भी नज़र डाला गया है फिर समकालीन हिन्दी उपन्यास के परिदृश्य का वर्णन है। साँप्रदायिकता पारिस्थितिक शोषण ऐतिहासिकता आँचलिकता दलित-विमर्श विस्थापन स्त्री विमर्श जैसे समकालीन उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा के बिना यह अध्याय अधूरा रह जाएगा इसलिए इस दिशा की ओर प्रकाश डाला गया है।

दूसरा अध्याय है 'विस्थापनः इतिहास एवं स्वरूप। ऐतिहासिक कालों से नए देशों की खोज में हुए देशांतरगमन और आर्थिक प्राप्ति केलिए किये गये प्रवजन और राजनीतिक संघर्षों से हुए पलायन, विस्थापन के विविध पहलू हैं। राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए प्रयुक्त उदारनीतियों एवं पूँजीवादी विकास के कारण भी दुनियाभर विस्थापन के पीड़ाजन्य प्रभाव दिखाई दे रहे हैं। 'विस्थापन' शब्द को सही मायने में समझने के लिए इसके विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन करना ज़रूरी है। इसलिए इस अध्याय में विस्थापन के इतिहास और उनके प्रकार तथा तत्वों को समझने की कोशिश की गयी है। भारतीय संदर्भ में विद्यमान विस्थापन जैसे भारतीयों के अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन, भारत विभाजन से उत्पन्न विस्थापन तथा विकास कार्यक्रमों से हो रहे जनजाति - विस्थापन के इतिहास का संक्षिप्त उल्लेख भी इस अध्याय में है।

तीसरा अध्याय है 'समकालीन हिन्दी उपन्यास में भारतीयों का अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन'। शताब्दियों से भारत के निवासी जीविकोपार्जन के लिए विदेश जाया करते थे, लेकिन वे बदलते परिवेश में भी भारतीय संस्कृति को महत्व देते रहे। इस द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति से उत्पन्न 'मानसिक विस्थापन' अनेक समकालीन हिन्दी उपन्यासों का विषय बना। ऐसे उपन्यासों में प्रवासियों के संघर्ष, क्षय होते रिश्तों का चित्रण, टूटी-बिखरती ज़िंदगी के तीखे अनुभव तथा संबंध-विच्छेदन से उत्पन्न मानसिक पीड़ा जैसे प्रत्येक प्रवासी संदर्भों का वास्तविक वर्णन है। भारतीयों का अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन की शुरुआत भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों के प्रस्थान से शुरु होता है। गिरिराज किशोर का 'पहला गिरमिटिया', अभिमन्यु अनत के 'लाल पसीना' और 'और पसीना बहता रहा', गिरमिटिया मज़दूरों की यातना - भरी ज़िंदगी पर आधारित उपन्यास हैं। शर्तबंद प्रथा समाप्त हुई लेकिन प्रवासी भारतीय मानसिक रूप से गुलाम ही रहे। 1950 के बाद, विदेश पहुँचे भारतीय नस्लवाद एवं रंगभेद के शिकार बन गये। लोग, अजनबी पराये परिवेश में अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्ष करते रहे। महेन्द्र भल्ला द्वारा रचित 'दूसरी तरफ़', 'दो देश और तीसरी उदासी' उपन्यासों में साँस्कृतिक, दार्शनिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों को लेकर भारतीय प्रवासियों के जीवन में आयी दुविधाओं का वर्णन है। पीढ़ियों के बीच जिस साँस्कृतिक टकराहट को प्रवासी महसूस कर रहे हैं, यही रवीन्द्र कालिया का 'ए.बी.सी.डी' उपन्यास की

विषयवस्तु है। दो संस्कृतियों के बीच, तनाव और विसंगतियों को लेकर जीनेवालों के रिश्ते-नाते में आयी शिथिलता को उषा प्रियंवदा, सुषम बेदी और द्रोणवीर कोहली ने क्रमश : उनके 'शेषयात्रा', 'हवन' और 'नानी' उपन्यासों के लिए विषय बनाया । दो संस्कृतियों के बीच पिसकर रहनेवाले प्रवासी भारतीयों के अस्तित्व - संघर्ष को समकालीन उपन्यासकार ने सफलतापूर्वक चित्रित किया है।

चौथा अध्याय है 'समकालीन हिन्दी उपन्यास में भारत विभाजन से उत्पन्न विस्थापन।' भारत विभाजन - रूपी झटके ने सभ्यता और संस्कृति, राष्ट्र और क़ौम संबंधी अवधारणाओं में ऐसी तब्दीली ला दी कि भारतवासी आज भी उन प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाये हैं। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में इस त्रासदी के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति के द्वारा विभाजन के संकट की संवेदनात्मक तथा बौद्धिक दृष्टि को प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। साँप्रदायिक हवस, विस्थापन और नैतिक अवधारणाओं के गिरावट से जुड़कर यह दुर्घटना और भी भयावह हो उठी। यशपाल कृत 'झूठा सच', द्रोणवीर कोहली का 'वाह कैंप', देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कठपुतली', बलवंत सिंह कृत 'काले कोस', गुरूचरण दास रचित 'कहानी एक परिवार की' , कमलेश्वर कृत 'कितने पाकिस्तान' ऐसे समकालीन हिन्दी उपन्यास हैं जिनमें विभाजन से संबंधित सभी समस्याओं तथा तत्घटित विस्थापन का मार्मिक वर्णन है। बँटवारे के कारण हुई विभीषिकाओं और दहशतों का दिल दहलानेवाले चित्रण के साथ -साथ विभाजनोपरांत

भारत में मुसलमानों की अवस्था तथा शारणार्थियों व मोहाजिरों की समस्याओं का दस्तावेज़ हैं, विभाजन संबंधी समकालीन हिन्दी उपन्यास। प्रताप सहगल कृत 'अनहद नाद', नासिरा शर्मा रचित 'ज़िंदा मुहावरे', राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव', 'ओस की बूँद', 'टोपी शुक्ला' जैसे उपन्यासों के आधार पर विभाजनोपरांत परिस्थितियों को पहचानने की कोशिश भी इस अध्याय में हुई है।

पाँचवाँ एवं अंतिम अध्याय है 'समकालीन हिन्दी उपन्यास में विकास योजनाओं से उत्पन्न विस्थापन।' विकास कार्यक्रमों के कारण घटित जनजातियों का विस्थापन, वर्तमान भारत का एक विचारणीय मुद्दा है। बहुमत की सुरक्षा केलिए प्रयुक्त हुए परियोजनाओं की बेरहम मार से भारत की पूरी आबादी का आठवाँ भाग बने आदिवासी वर्ग ही अस्तित्वहीन बन रहे हैं। उन्हें समाज की मुख्यधारा में शामिल करा देने केलिए चलायी जा रही कल्याण योजनाएं वास्तव में उन्हें हाशिए की ओर धकेल रही हैं। तथाकथित सभ्य समाज के शोषक वर्ग जनजाति समूह को जो शोषण और विस्थापन का दर्द दे रहा है, इसका सफल वर्णन अनेक समकालीन हिन्दी उपन्यासों का कथ्य है। संजीव कृत 'पाँव तले की दूब' उपन्यास में औद्योगीकरण की चपेट में आये आदिवासी समाज का वर्णन है। विकास के नाम पर आरंभ की गई बाँध परियोजना किस प्रकार लोगों को विस्थापित कर देती है, इसका मार्मिक वर्णन वीरेन्द्र जैन कृत 'डूब' और 'पार' एवं अमिता शर्मा रचित 'विस्थापित' उपन्यास का कथाकेन्द्र

है। समाज के शोषक वर्ग द्वारा रौंदने और कुचल जाने केलिए मजबूर बने भारतीय जनजाति को केन्द्र बनाकर लिखे उपन्यासों में श्रीप्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते हैं', राकेश कुमार सिंह कृत 'पठार पर कोहरा', मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', सुभाष पंत कृत 'पहाड़ चोर' और प्रतिभा राय कृत 'आदिभूमि' विशेष उल्लेखनीय हैं। जंगलों में शताब्दियों से पल रहे जनजाति समूह, प्राकृतिक आपदाएँ और बाहरी शोषित व्यवस्था के पाटों में किस तरह पिसते रहते हैं और विस्थापन का दर्द सह रहे हैं, यह जानने की कोशिश भी उक्त समकालीन हिन्दी उपन्यासों के ज़रिए हुई है।

उपसंहार में उपयुक्त पाँचों अध्यायों में प्रस्तुत विचारों के परिप्रेक्ष्य में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। अंत में संदर्भग्रन्थ सूची भी दी गयी है।

कोई भी कार्य स्वजनों के सहयोग एवं आशीर्वाद के बिना संपन्न नहीं हो सकता। 'समकालीन हिन्दी उपन्यासों में विस्थापितों का यथार्थ' पर अध्ययन करते समय विषय संबंधी सुझाव देने तथा सामग्री उपलब्ध कराने में गुरुजनों तथा मित्रों का महत्वपूर्ण सहयोग मुझे पग-पग पर प्राप्त हुआ, साथ ही परिवार के सदस्यों का स्नेह, आशीर्वाद तथा समय - समय पर किया जाने वाला उत्साहवर्द्धन मेरी शक्ति एवं संबल बना उन सबका आभार व्यक्त किये बिना आगे बढ़ जाना घृष्टता होगी।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध संबंधी कठिनाईयों का निवारण करने में निर्देशक महोदय डॉ.के वनजा ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, इन्होंने विषय चयन

से लेकर कार्य की संपूर्णता तक अपनी गहरी रुचि दिखायी है, मैं उनके स्नेह एवं अमूल्य सहयोग को आभार शब्द की संकीर्णता में बाँध पाने का दुःस्साहस नहीं कर पा रही हूँ।

कोच्चि विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का अध्यक्ष एवं मेरी डॉक्टरल कमिटि के विशेषज्ञ डॉ.एन.मोहनन के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

हिन्दी विभाग के सभी अध्यापकों के सलाह एवं सहयोग के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

डॉ. एन.आर. चित्रा के प्रति मैं ह्रदय से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया तथा सुझावों द्वारा चिन्तन की दिशा प्रदान की।

मैं उन समस्त विद्वजों के प्रति आभारी हूँ जिनकी पुस्तकों से मुझे सहयोग मिला है।

विभाग के मेरे प्रिय मित्रों को भी मैं इधर याद करती हूँ - उनके स्नेह, प्रोत्साहन एवं सुझाव के लिए मैं उन लोगों से विशेष आभारी हूँ।

शोध सामग्री एकत्रित करने में कोच्ची विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पुस्तकालय का योगदान महत्वपूर्ण है। मैं यहाँ के कर्मचारियों के सहयोगपूर्ण व्यवहार हेतु उनका आभारी हूँ।

ममतामयी माँ श्रीमती. लूसी जेकब की प्रार्थना एवं स्नेही पिता श्री. जेकब कुरियाकोस के आशिर्वाद की शक्ति से मैं अपने शोध कार्य को पूर्ण कर पाने में समर्थ हुई। पूज्य माता-पिता के समक्ष नतमस्तक हूँ।

मेरे कार्य में विशेष रुचि दिखाने और ह्रदय से मेरी सफलता की

कामना करनेवाले सभी के प्रति भी मैं आभारी हूँ।

अंत में सर्वोपरि मैं उस सर्वेश्वर के प्रति भी आभारी हूँ जिनकी कृपा से यह काम सही वक़्त पर पूरा हुआ।

सविनय

रुबी एलसा जेकब।

पहला अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास का परिदृश्य।

भूमिका :

उपन्यास - 'उप-नी' उपसर्गमूलक धातु से बना है- यथा (उप), समीप (नी), न्यास (आस) रखना; अर्थात् इसकी रचना इस प्रकार की हो कि आश्चर्य की भावना का उत्तरोत्तर विकास होता जाए। जहाँ इस नये शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया कि यह साहित्यांग पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न जाति का है, वहीं इसके शब्दार्थ के द्वारा (उप-निकट, न्यास - रखना) यह भी सूचित किया गया कि सविशेष साहित्यांग के द्वारा ग्रन्थकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव-मत रखना चाहता है। उपन्यास, प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में प्रचलित है। 'दशकुमारचरित', 'वासवदत्ता', 'श्रीहर्षचरित', 'कादम्बरी' आदि उपन्यास इसकी प्राचीनता के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं।

मानव जीवन के सर्वाधिक सन्निकट होने के कारण आधुनिक युग में उपन्यास- साहित्य ने बडी शक्ति एवं महत्व प्राप्त कर लिया है। भारतीय साहित्य में 'उपन्यास' शब्द संस्कृत भाषा का है और कथा के अर्थ में इसका पहला प्रयोग बंगला साहित्य में सन् 1856-57 में श्री भूदेव मुखर्जी लिखित पुस्तक 'ऐतिहासिक उपन्यास' के नामकरण से हुआ। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार, हिन्दी में नवीन विधा के रूप में उपन्यास शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम संभवतः सन् 1871 में 'मनोहर

उपन्यास' पुस्तक के शीर्षक के रूप में उपलब्ध होता है।[1] डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की राय में उपन्यास, वस्तुतः नवल अर्थात् नया और ताज़ा साहित्यांग है। नन्ददुलारे वाजपेयी, बाबू गुलाबराय, पाश्चात्य विद्वान रावर्ट लिडेल आदि ने भी उपन्यास को नये युग की नयी विधा के रूप में स्वीकार किया है।

किसी भी साहित्यांग की नियम-निष्ठ परिभाषा देना कठिन है। उपन्यास को परिभाषाबद्ध करना और भी अधिक कठिन है क्योंकि यह सर्वाधिक रूपान्तरणीय रूप है। उपन्यास, समय का साथ देनेवाला गतिधर्मा-युगधर्मा साहित्य है-नित्य नवल होते रहने वाला नावल है।

अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार अलग प्रकार से उपन्यासों की तर्कसिद्ध परिभाषाएँ दी हैं, लेकिन कोई भी पूर्ण एवं पर्याप्त नहीं। मानव जीवन धारा के सदृश्य उपन्यास का विषय-क्षेत्र इतना विशाल एवं व्यापक है कि समस्त विशेषताओं को एक साथ रखकर एक परिभाषा निश्चित करना संभव नहीं।

यूरोपीय विद्वान, राल्फ फाक्स ने उपन्यास को मानव-जीवन का गद्य माना है।[2] क्रोस के अनुसार, "उपन्यास, उस गद्य-आख्यान को कहा जाता है जो यथार्थ जीवन का यथार्थवादी दृष्टि से अध्ययन करे।"[3] हेनरी जेम्स के मत में उपन्यास अपनी व्यापक भाषा के अनुसार एक

---

1. डॉ. माताप्रसाद गुप्त - हिन्दी पुस्तक साहित्य - पृ. सं: 27
2. Ralph Fox - The Novel and The People - P. 20
3. Cross - The development of English Novel - P. 1

व्यक्तिगत तथा सीधा जीवन की छाप है जो उसके मूल्य का निर्माण करती तथा उसका महत्व निर्धारित करती है। प्रेमचन्द, उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझता है। उनके अनुसार, मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।[1]

उपन्यास का स्वरूप क्या है और उसमें मानव जीवन किस रूप में चित्रित होता है, यह बताने केलिए विद्वानों ने अनेक प्रकार से अपने विचार व्यक्त किये हैं। लार्ड डेविड सेसिल ने उपन्यास को एक कलाकृति माना है और जे.बी. प्रिस्टले उपन्यास को जीवन का दर्पण समझता है। लेकिन दोनों ही अभिमत सीमित एवं संकुचित है। जन-जीवन से संबद्ध उपन्यासों को केवल कला-प्रदर्शन का साधन समझना उचित नहीं। इसी तरह, उनमें अभिव्यक्त जीवन केवल बाह्य जीवन का यथातथ्य प्रतिबिंब नहीं होता बल्कि वह कलाकार द्वारा संस्करित, परिवर्तित और रूपायित होता है। इसी बात पर ज़ोर देते हुए रामचन्द्र शुक्ला कहते है कि "समाज जो रूप पकड़ता है और उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं उपन्यास उनका प्रत्यक्षीकरण ही नही करते आवश्यकतानुसार उनके उचित विस्तार, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करते हैं।"[2]

---

1. प्रेमचन्द - साहित्य का उद्देश्य, पृ. संः 54
2. रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. संः 536

उपन्यास, मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। किन्तु, काल्पनिक होते हुए भी वह यथार्थ है क्योंकि उसमें जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति होती है। कल्पना द्वारा उपन्यास में सत्य तथा सुन्दर जीवन के दार्शनिक तत्वों को रोचक ढंग से उपस्थित किया जाता है। कुछ समय पूर्व इस भ्रामक धारणा का प्रचलन हुआ था कि उपन्यास की कोई शास्त्रीय मर्यादा नहीं है, परन्तु आधुनिक युग के महान उपन्यासों को देखने के बाद इस भ्रम का निवारण हो चुका। संक्षेप में यह निसंदेह बता जा सकता है कि उपन्यास, सामाजिक यथार्थ का अविकृत दर्पण होता है। वह नाना सामाजिक समस्याओं से टकराता है, जूझता है और समाधान का संकेत भी देता है।

हिन्दी उपन्यास का विकास

हिन्दी में उपन्यास, अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव-स्वरूप एक नयी विधा के रूप में प्रकट हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के कारण समाज में जो बदलाव आए, उसके संवाहक के रूप में उपन्यास का उदय हुआ। प्रथम उपन्यास किसे माना जाए, यह विषय विवादास्पद है। श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' में सभी औपन्यासिक तत्व मिलते हैं और यह स्त्री-शिक्षा की समस्या को लेकर लिखा पहला उपन्यास है। लेकिन, लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' पाश्चात्य नावेल की पद्धति पर लिखा हुआ हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास मानते हैं। परन्तु, हिन्दी उपन्यास का वास्तविक विकास प्रेमचन्द के प्रादुर्भाव

से हुआ। अतः, उपन्यास के विकास-क्रम को प्रेमचन्द-पूर्व युग, प्रेमचन्द युग तथा प्रेमचन्दोत्तर युग के रूप में विभक्त किया गया है।

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यासों का समय सामाजिक दृष्टि से सुधारवादी आन्दोलनों का काल था, राजनीतिक दृष्टि से नवीन जागरण का काल था। यह आश्चर्य की बात है कि ऐसी सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक परिस्थितियों में जिस हिन्दी 'उपन्यास शिशु' ने जन्म लिया, उसमें न तो स्वतन्त्रता की स्वर-लहरी थी और न जीवन-जागरण की दुंदुभि। इस युग में उपदेशात्मक तथा सामाजिक उपन्यास और मनोरंजन-प्रधान उपन्यास आते हैं। प्रथम वर्ग के अंतर्गत, लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु', श्रद्धाराम फुल्लौरी का 'भाग्यवती', बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास, 'सौ अजान एक सुजान' और 'नूतन ब्रह्मचारी', राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिन्दू' आदि आते हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आनेवाले तिलिस्मी तथा जासूसी उपन्यासों के द्वारा उपन्यासकार पाठकों की मनोतुष्टि के प्रयत्न में एक ही स्तर की सस्ती भावुकता और रहस्य-विधायनी कल्पना को महत्त्व देते रहे। ऐसे उपन्यासों में देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता', गोपालराम गहमरी के 'अद्भुत लाश' आदि शामिल है। हिन्दी उपन्यासों के उद्भव और विकास का यह प्रथम सोपान चाहे उद्बुद्ध चेतना का संयक् प्रतिनिधित्व नहीं कर पाया, किन्तु यह तत्कालीन जन-जीवन की व्यापक परिस्थितियों पर आधारित है। यद्यपि इस समय हिन्दी उपन्यास-साहित्य का

क्षितिज तिलिस्मी-ऐयारी, जासूसी और साहसिक उपन्यासों की रंगीन पतंगों से भर गया, साथ-ही-साथ सामाजिक उपन्यासों के द्वारा तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तियां जैसे, धर्म की जय, नवीनता का समर्थन या विरोध, अंधविश्वासों के परित्याग, राष्ट्र-प्रेम आदि भी चित्रित किये गये।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के जिस काल को 'प्रेमचन्द युग' कहा गया, उस काल में गांवों एवं शहरों में क्रमशः सामन्तवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था पनपने लगी थी। भारत में अनेक मिल और कारखाने खोल दिए गए और बिजली के आविष्कार के कारण औद्योगीकरण धीरे-धीरे विकसित होता जा रहा था। प्रेमचन्द युग के हिन्दी उपन्यासों में इसी समाज का सर्वांगीण चित्र उपस्थित किया गया है। इस युग में हिन्दी उपन्यास ने पहली बार सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से अपना संबन्ध जोड़ा और औपन्यासिक कला में "भाषा की अलंकारिता और कल्पना की रंगीनी के स्थान पर सत्य की नई अपराजित आभा ने प्रवेश किया।"[1] हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द के प्रवेश ने उसकी काया पलट दी। उनके उपन्यासों की मूल प्रेरणा सामाजिक कल्याण की भावना है। उस युग के दलित व पीड़ित व्यक्तियों - नारी, किसान और मज़दूर -के प्रति गहरी सहानुभूति रखकर उन्हें प्रेमचन्द अपने उपन्यासों का आधार - स्तम्भ बनाया। तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक

---

1. डॉ. रामरतन भटनागर - प्रेमचंद युग (लेख) -'आलोचना' (अक्टूबर1954)

गतिविधियों का सच्चा चित्रण उनके उपन्यासों की विशेषताएं हैं। प्रेमचंद - युग के अंतिम चरण के उपन्यासकार समाज की अन्ध - परंपराओं उसके कृत्रिम मूल्यों और निरर्थक मान - मर्यादाओं से व्यक्ति की आत्मा को मुक्त कराने केलिए जी - जान से जुट गया। वह व्यक्ति - सत्य की खोज में व्यक्ति-मानस की गहराईयों में उतरने लगा। इस प्रकार, साहित्यकार की आस्था समाज से हटकर व्यक्ति में स्थापित हो गयी।

प्रेमचन्दोत्तर युग में उपन्यासों का अभूतपूर्व विकास हुआ और इसमें मध्यवर्गीय जीवन और कुण्ठाओं की मीमांसा हुई। सन् 1920 से 1930 तक मध्यवर्ग विचारों में अधिकाधिक राजनीतिक था परन्तु क्रमशः वह राजनीति से दूर होकर अपनी मानसिक तुष्टि को आध्यात्म, मनोविज्ञान और सांस्कृतिक विषयों में खोजने लगा। इस युग की सबसे महत्वपुर्ण घटना है साहित्य-सृजन का वाङ्मय आकाश से उतरकर व्यवसाय की कठोर धरती पर आ टिकना। नई तकनीकों के प्रयोग होने के कारण उपन्यास का शिल्प-विकास तेज़ी से होने लगा और उसकी शिल्पगत उपलब्धियां उत्तरोत्तर बढ़ती गयीं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति, भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। स्वाधीनता के बाद, राष्ट्रीय जीवन को विक्षुब्ध और खण्डित करने वाली दो घटनाओं जैसे सांप्रदायिक संघर्ष और गांधीजी की हत्या ने राष्ट्र की जड़ों को हिला दिया। जनता द्वारा देखे सभी सुनहले स्वप्न

धूमिल पड़ गए और लोगों का ध्यान राजनीति से हटकर वैयक्तिक समस्याओं पर पड़ा। जीवन का यथार्थ चित्रण करने वाले उपन्यास इसी युग की विशेषता है। अनेक तकनीकों के आविर्भाव के कारण अनेक प्रकार के उपन्यासों की रचना हुई। इस समय जीवन जीने और भोगने के बजाय समझने और समझाने का, व्याख्या और विश्लेषण का विषय बन गया तथा अनुभूति का स्थान बौद्धिकता ने ले लिया। उपन्यास केलिए यह बड़े संकट का समय था, पर शीघ्र ही बौद्धिकता और शिल्प ने सहारा देकर उसे इस विकट स्थिति से उबार लिया।

हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों में जीवन के सामाजिक पक्ष के बजाय मनोरंजन और कौतूहल का उद्रेक दिखाई देता है। इसलिए इन उपन्यासों में युग- जीवन का स्फुरण न के बराबर था। बाद में, प्रेमचंद ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन, मध्यवर्ग और ग्राम-जीवन के सुंदर चित्रों का उद्‌घाटन करके उपन्यासों में युग के चित्रों को उभारा। भारतीय जन-जीवन के मानस की क्रमशः बढ़ती हुई हलचल इन उपन्यासों में स्पष्ट झाँक उठती हैं। मार्क्स और फ्रायड, दर्शन और मनोविज्ञान के साहचर्य ने बाद के उपन्यासों को नया शिल्प प्रदान किया। युग की व्यापक चेतना, मानव-मन की असंख्य तृप्त-अतृप्त आकांक्षाएं और समाज की सुलझी-उलझी अनेक गुत्थियां उपन्यासों के माध्यम से प्रकट होने लगीं। धीरे-धीरे, हिन्दी उपन्यास के बहुविध रूपों में विकास हुआ। इस विकास -क्रम में सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता का

स्फुरण हुआ, वहीं वैयक्तिकता, प्रान्तीयता, आंचलिकता और अहंवादिता भी अपने शत-शत रूपों में प्रस्फुरित हुई। उपन्यास की विविध विधाओं द्वारा मानवीय जीवन के छोटे-बड़े पक्षों को सफलतापुर्वक प्रस्तुत करते हुए हिन्दी औपन्यासिक विधा दिन-ब-दिन अपने कर्म-मार्ग में अग्रसर हो रही है।

समकालीनता

अपने समय की महत्वपूर्ण समस्याओं के साथ उलझना ही समकालीनता है। यह एक कालावधि क्रम है। प्रत्येक कालावधि की समस्याएं अलग-अलग होती हैं या बदलती रहती हैं। आज नैतिक मानदण्डों में भी बदलाव आया है और परिस्थितियां नित्य ही परिवर्तित होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में समकालीन उपन्यासकार इस यथार्थ से मुँह नहीं मोड़ सकता।

समकालीन शब्द अंग्रेज़ी के 'कांटम्परेरी' के पर्याय के रुप में हिन्दी में प्रचलित है जिसका कोशीय अर्थ है 'एक ही समय का, अपने समय का या समवयस्क होता है'। डॉ. विशम्भरनाथ उपाध्याय के अनुसार "समकाल शब्द यह बताता है कि काल के इस प्रचलित खण्ड या प्रवाह में मनुष्य की स्थिति क्या है। इसे उलटकर कहे तो मनुष्य की वास्तविक स्थिति देखकर या उसे अंकित-चित्रित करके ही हम समकालीनता की अवधारणा को समझ सकते हैं। शर्त यही है कि लेखक आज के मनुष्य(देशकाल-स्थिति) में वस्तुगत रहे, यानि उसके

चित्रण की विधि कोई भी हो लेकिन उससे जो मानव बिम्ब उभरता हो, वह वास्तविक जीवन के निकट हो।"[1] अर्थात् समस्याओं और चुनौतियों में भी केन्द्रिय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उन्पन्न होती है।

स्वचेतना, संचेतना और संवेदनशीलता समकालीनता की अनिवार्य शर्तें होती हैं। सचेतन समकालीन व्यक्ति, कार्य के किसी भी बिन्दु को निरपेक्ष नहीं मानता। वर्तमान में वह भूत और भविष्य को समझता है। यह समझ ही व्यक्ति को समकालीन बनाती है और उसे "काल की निरन्तरता या प्रवाह और परिस्थितियों की संभावनाओं का ज्ञान कराती है।"[2] अतः समकालीनता का संबन्ध काल - विशेष से होने के साथ-साथ व्यक्तिविशेष के कालयापन तथा साहित्य, समाज अथवा परिवेश के परिवर्तनशील विशेष प्रवृत्ति से भी है।

प्रत्येक वर्तमान चिन्तन समकालीनता से ही यथार्थता ग्रहण करता है। परिवेश की परिवर्तनशीलता के कारण समकालीनता के स्वरूप में बदलाव आ सकता है। नये मूल्यों की तलाश में समकालीन बोध जिस प्रकार का अनुभव प्राप्त करता है, जिन समस्याओं से उसे गुज़रना पड़ता है इन सबके मूल में जो कुछ उसे सही और सार्थक प्रतीत होता है उसे प्रतिमानों के रूप में घोषित करता है।

---

1. डॉ. विशम्भरनाथ उपाध्याय- समकालीन कहानी की भूमिका पृ. सं: 2
2. डॉ. विशम्भरनाथ उपाध्याय- समकालीन सिद्धांत और साहित्य पृ. सं: 13

स्वतन्त्रतापूर्व का भारतीय समकालीन चिन्तन पूर्णतःराष्ट्रीय स्वतन्त्रता केलिए था। स्वतन्त्रता के बाद, असमानता और राजनीतिक अस्थिरता का जो दौर आया उससे समकालीन बौद्धिक चिन्तन में काफ़ी तीखापन आ गया। देश का साधारण जन पशुस्तर से कुछ ही इंच ऊपर जीने को विवश होता रहा और करोड़ों लोग पशुस्तर पर भी नहीं जी पाते क्योंकि उन्हें न तो भोजन उपलब्ध होता था न निवास। समाज की ऐसी विषम स्थिति में पूँजी का केन्द्रीकरण होता गया और भारतीय जीवन दो वर्गों-अति अमीर और अति गरीब में बंट गया। इन दोनों के मध्य में एक वर्ग और विकसित हुआ जो मध्यवर्ग था। अधिकांश समकालीन चिन्तक और रचनाकार इसी वर्ग के हैं जो परिवेश की विसंगतियों के प्रत्यक्ष भोक्ता रहे हैं। यह अनुभव ही उन तमाम विषम परिस्थितियों के विरोध में समकालीन रचनाकार को खड़ा करता है।

समकालीनता, देश की अनिश्चयात्मक स्थितियों को एक चुनौती के रुप में स्वीकार करती है और उससे लड़ने केलिए वैचारिक आधार पर विरोध और विद्रोह का सहारा लेती है। वह देश-काल के बदलाव को मानवीय संदर्भ में देखने की पक्षपाती हैं। काल का बोध या समकालीन बोध, उस व्यक्ति को होता है जो उसका शिकार है, अपने अस्तित्व केलिए संघर्षरत है। ऐसे ही व्यक्ति समकालीनता को पहचान पाते हैं और महत्वपूर्ण स्थान दे पाते हैं।

हमारा समकालीन परिवेश अनेक विसंगतियों से भरा हुआ

है। इस परिवेश में व्यक्ति अपनी बाहरी और भीतरी पीड़ा को चुपचाप सहने पर विवश है। दूसरे विश्वयुद्ध से शुरु हुए इस टूटन के अंतिम कगार पर आज हम खड़े हैं। आज हर चीज़ टूटकर बिखर गई है। "विश्व बिखर गया है राष्ट्रों में, राष्ट्र टुकडों में और टुकड़े बिखर गये हैं इकाईयों में। उधर समाज बिखर गया है - वर्ग, समूह, संस्था, यूनियन, पार्टी में। और रह गया है केवल व्यक्ति। लेकिन व्यक्ति स्वयं अपने आपमें, अपने ही भीतर बिखर गया है। व्यक्ति - चेतना बिखर गयी है स्व में, अहं में सर्वत्र एक टूटन महसूस की जा रही है। आज की बिखराहट, छितराहट, आकुलता-व्याकुलता और व्यापक अराजकता स्व को छोड़कर किसी अन्य के नेतृत्व, किसी ओर के प्रतिनिधित्व में विश्वास नहीं करता। सारा युग व्यक्तिवादी बन गया है, व्यक्ति चेतनावादी हो गया है।"[1] विश्वभर छाये इस व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का जन्म हिन्दी औपन्यासिक क्षेत्र में 'अस्तित्ववाद' के नाम से हुआ।

हिन्दी उपन्यास के विकास -क्रम में एक ओर सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता का स्फुरण हुआ तो दूसरी ओर वैयक्तिकता, प्रान्तीयता, आंचलिकता और अहंवादिता भी शत-शत रुपों में प्रस्फुटित हुई। समकालीन बदलते परिवेश से प्राप्त नये मूल्यों, समस्याओं और चुनौतियों को आधार बनाकर लिखे उपन्यासों से समकालीन हिन्दी उपन्यास का

1.डॉ. पुरूषोत्तम दुबे -व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ.सं: 213

क्षितिज-विस्तार बढ़ता ही जा रहा है।

आधुनिकता

समकालीनता, आधुनिकता से प्राप्त एक संस्कार है जो आधुनिकता की नयी व्याख्या करता है और आधुनिक बोध के स्तर पर उसे प्रतिपादित भी करता है। इसलिए समकालीनता की चर्चा करते समय आधुनिकता शब्द भी महत्वपूर्ण है। समकालीनता, आधुनिकता की पीठ पर स्थित एक कालखंड है जो आधुनिकता के साथ होकर भी आधुनिकता से अलग, अपनी पहचान रखता है।

आधुनिकता, अंग्रेज़ी के 'माडर्निज़म' और 'माडर्निटी' का हिन्दी पर्याय है जिसका संबन्ध चिन्तन की एक व्यापक बौद्धिक गतिशील परम्परा से है। अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि आधुनिकता की शुरुआत यूरोप में हुई है। "आधुनिक विज्ञान और तकनीक के फलस्वरुप उत्पन्न मानव स्थितियों का नया और रोमांटिक और अमिथकीय साक्षात्कार ही आधुनिकता है।"[1] किन्तु, आधुनिकता एक कालखण्ड नहीं है। "आधुनिकता एक जड़ स्थिति न होकर विकास की स्थिति है। नवीन परिस्थितियों के संदर्भ में अपने आप का संस्कार करना ही आधुनिकता है। आधुनिकता, संस्कृति का ग्रहणशीलन तथा विकासोन्मुखता की परिचायक दृष्टि है, इसलिए वह समूची जीवन-व्यवस्था को प्रभावित करती है, उसके किसी खण्ड-विशेष को नहीं-कुल मिलाकर आधुनिकता

---

1. डॉ. नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. सं: 445

एक भविष्योन्मुखी दृष्टि है, वर्तमान के संदर्भ में।"[1] संक्षेप में, आधुनिकता एक गतिशील आधुनिक स्थिति है जिसका स्वभाव ठहरना नहीं, निरन्तर बदलना है।

आधुनिक काल औद्योगीकरण, नगरीकरण और बौद्धिकता से संबद्ध है जिससे नवीन आशाएं उभरीं और भविष्य का नया स्वप्न देखा जाने लगा। देश, धर्म, राष्ट्र, ईश्वर आदि की नयी-नयी व्याख्याएं की जाने लगीं। एक बिन्दु पर खड़े होकर मनुष्य ने पाया कि जिस औद्योगीकरण और प्रविधीकरण के सहारे उसने 'परी-देश' का सपना देखा था, वह साकार नहीं हो सका। सरकारें स्थिर व्यवस्था में बदल गयीं। लोकतन्त्र तथा साम्यवादी सरकारें समान रुप से निराशाजनक सिद्ध हुई। व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व और पहचान खो गयी। इस खोये हुये व्यक्तित्व की खोज-प्रक्रिया का नाम 'आधुनिकता' है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को बहुत-कुछ बुद्धि-सम्मत बना दिया। नित्शे की इस घोषणा से कि 'ईश्वर मर गया', बौद्धिक जगत् में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। यथार्थ का स्वरुप ही बदल गया। मनुष्य ने पाया कि वर्तमान परिस्थिति में वह असहाय और निरर्थक प्राणी है। इसके फलस्वरुप अस्तित्ववादी दर्शन का विकास हुआ। यह दर्शन उन समस्त विचारों के विरुद्ध है जो व्यक्ति को अ-मनुष्य और अस्तित्वहीन बनाते हैं। अस्तित्ववादी दर्शन की दृष्टि में मनुष्य स्वतन्त्र है- वह वस्तु

---

1. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी नवलेखन पृ. सं: 13

और मशीन न होकर एक क्रियात्मक शक्ति है। इस दर्शन पर आधारित साहित्य केवल परंपरागत रुपों को तोड़ने का प्रयास नहीं है, बल्कि इनमें आज के अनिश्चय, व्यर्थता, अकेलेपन, अजनबीपन, आत्मनिर्वासन आदि का व्यक्त वर्णन है।

समकालीनता और आधुनिकता का अंतःसंबन्ध

समकालीनता और आधुनिकता के अंतः संबन्धों पर विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि काल के एक ही केन्द्र से जुड़ी होने पर भी उन दोनों की अलग अस्मिता है, अलग पहचान है। स्पेंग्लर के अनुसार , 'जो घटनाएँ चारों ओर घटित होती हैं, उनका प्रतिबिम्ब नया प्रतिफलन समकालीनता है परन्तु उसका विरोध करना आधुनिकता है'। सामाजिक व्यवस्थाओं के रुढ़ और जर्जर हो चुकी मान्यताओं के परिवर्तनों से ही इन दोनों का संबन्ध है।

आधुनिकता, एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जो अपने परिवेश की गंभीर समस्याओं से उद्भूत होती है और समकालीन जीवन को संस्कार देती है। इसी तरह, समकालीनता भी अविराम रूप से काल या समय-चक्र से संबन्ध रखती हुई समाज के भीतर द्वन्द्व को उद्घाटित करती है। आधुनिकता अगर एक गतिशील अविराम प्रक्रिया है तो समकालीनता उसका व्यावहारिक संदर्भ। आधुनिकता का युग परिवेश समकालीनता के द्वारा ही प्राप्त हो पाती है। समकालीनता एक ओर आधुनिकता- बोध को व्यावहारिक और रचनात्मक व्यवहार प्राप्त करती

है तो दूसरी ओर आधुनिकता की प्रक्रिया को भी गतिशील बनाये रखती है। अतःसमकालीनता का आधुनिकता की प्रक्रिया और आधुनिक बोध से एक अनिवार्य, अटूट और गहरा रिश्ता है जो दोनों के विकास में गतिशील भूमिका निभाता है।

लेकिन, समकालीनता आधुनिकता का पर्याय नहीं है। समकालीन संदर्भ को लेकर लिखी गई हर रचना आधुनिक ही हो, यह ज़रूरी नहीं। समकालीनता का संबन्ध आधुनिकता से होते हुए भी समसामयिक संदर्भों तक सीमित रह जानेवाली रचना आधुनिक नहीं। एक अर्थ में सभी रचनाकार आधुनिक हैं लेकिन समकालीन नहीं। "समकालीन लेखक आज की तात्कालिकता से परिचालित होता है जबकि आधुनिक लेखक समकालीन परिदृश्य के प्रति सहज और संवेदनशील होता हुआ भी समकालीन मूल्यों को चरम और अन्तिम नहीं मानता।"[1] समकालीन बोध यह बताता है कि समसामयिकता में से क्या जीवनोपयोगी है तो आधुनिकता इस बात का बोध कराती है कि उन जीवनोपयोगी तत्वों का कैसे उपभोग किया जा सकता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता एक दृष्टिबोध है और बौद्धिक गतिशील परम्परा है जबकि समकालीनता एक ज्वलन्त सत्य है, वर्तमान का सत्य है। समकालीनता हमारी विवशता होती है। इसमें वर्तमान की पीड़ा के साथ हमारा साहचर्य होता है और

---

1. डॉ. नरेन्द्र मोहन - आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ पृ. सं: 22

उसीकी अभिव्यक्ति समकालीन रचनाकार करता है।

हिन्दी उपन्यास के विकास - क्रम में आधुनिकता और समकालीनता

हिन्दी उपन्यास को प्रथम बार 'आधुनिक' बनाने का श्रेय जैनेन्द्र कुमार को जाता है। उन्होंने 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' जैसे उपन्यासों द्वारा व्यक्ति-पात्रों की मानसिक गहराईयों में प्रवेश करने की कोशिश की हैं। आधुनिकता के तहत होकर उपन्यास के विषय के साथ शिल्प और भाषा में भी बदलाव आने लगे। जैनेन्द्र की भाषा की विशेषता है सादगी जिसकी सहायता से उन्होंने आन्तरिक मनोभावों को अद्‌भुत क्षमता के साथ व्यक्त किया। सियारामशरण गुप्त के उपन्यास 'गोद','अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' गाँधी-दर्शन पर आधारित मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यास हैं जिसमें नये-पुराने मूल्यों के समन्वय पर बल दिया गया है।

1950 तक के हिन्दी उपन्यास मुख्यतः फ्रायड और मार्क्स की विचार धारा से प्रभावित है जिसकी पृष्ठभूमि जैनेन्द्र कुमार पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे। उन्होंने अपने उपन्यासों में व्यक्ति की गुम होती हुई पहचान को उभारकर सामने रखा। अज्ञेय कृत 'शेखरःएक जीवनी' के प्रकाशन के साथ हिन्दी उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ आया। यह उपन्यास कथ्य, शिल्प और भाषा की दृष्टि से परंपरा से हटकर एक नया प्रयोग था। जिसे आज आधुनिकता की संज्ञा दी जाती है, उसका सर्वप्रथम समावेश इसी उपन्यास में है। अज्ञेय के दूसरे उपन्यास 'नदी

के द्वीप' को सामान्यतः शेखर की संवेदना का विकास माना जाता है। 'अपने अपने अजनबी' में स्वतन्त्रता के अहंकार से जोड़कर अज्ञेय ने अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता के मूल अर्थ को ही बदल दिया है। इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी', 'जहाज़ का पंछी' आदि प्रमुख मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास हैं।

प्रेमचन्द्र ने जिस यथार्थवादी दर्शन का ग्रहण किया था, उस परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय यशपाल का है। उनका प्रारम्भिक जीवन क्रान्तिकारी दल से संबद्ध होने के कारण मार्क्सवादी विचारधारा का उन पर गहरा प्रभाव था। 'अमिता' और 'दिव्या' शीर्षक ऐतिहासिक उपन्यासों को छोड़कर उनके शेष उपन्यास जैसे 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रुप', 'झूठा सच' (दो भाग) आदि समाजवादी यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'झूठा सच' में यशपाल ने बहुत विशाल फलक पर जीवन के विविध रुपों, आयामों, समस्याओं और जटिलताओं को अपने ढंग से प्रभावशाली रुप में प्रस्तुत किया।

रामेश्वर शुक्ल अंचल के 'चढ़ती धूप', 'नयी इमारत', 'उल्का' 'मरुप्रदीप' जैसे उपन्यासों में समाज, संस्कृति और राजनीति के संदर्भ में समकालीन परिवेश के विविध पक्षों को रुपायित किये हैं। भगवतीचरण वर्मा अपने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' , 'भूले-बिसरे चित्र', 'सबहिं नचावत राम गुसाई' जैसे उपन्यासों में परिवर्तमान ऐतिहासिक धारा को मध्यवर्ग के

माध्यम से अंकित किया। अमृतलाल नागर के 'महाकाल' 'बूँद और समुद्र', 'एकदा नैमिषारण्ये', 'मानस का हंस' जैसे उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक संबन्धों को चित्रित किया है।

हिन्दी-उपन्यासों के विकास - क्रम में इतिहास-संबन्धी नया दृष्टिकोण सामने आया। वृन्दावनलाल वर्मा अपने 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी', 'मृगनयनी' जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक समग्रता का सजीव चित्र उभारा है। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास मात्र इतिहास के तथ्यों पर आधारित नहीं है, उनमें कल्पना के आधार पर ऐतिहासिक वातावरण की अर्थवान् सृष्टि की गयी है। उनके 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' जैसे उपन्यास किसी कालखण्ड को जीवन्त रुप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसे आज की ज्वलन्त समस्याओं के साथ भी जोड़ते हैं। यशपाल के 'दिव्या' और 'अमिता' जैसे ऐतिहासिक उपन्यास मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विन्यस्त हैं। राहुल सांकृत्यायन के 'सिंह सेनापति' और 'वैशाली की नगरवधू' और रांगेय राघव के 'मुर्दों का टीला' भी मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

सन् 1950 के बाद के दशक में प्रकाशित हिन्दी उपन्यास एक नये प्रकार के मुक्ति- आन्दोलन से जुड़े हुए हैं जो एक ओर वैयक्तिक है और दूसरी ओर सामाजिक। वैयक्तिक इसलिए कि वह पुराने नैतिक मूल्यों से मुक्त होकर खुले वातावरण में सांस लेना चाहता है और

सामाजिक इसलिए कि आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने केलिए अभी समाज को लंबी मंज़िल तय करनी थी। देश- विभाजन के कारण जो नयी समस्याएं उत्पन्न हुई उन्हें भी औपन्यासिक रुप दिया गया। इस समय प्रकाशित उपन्यासों में चित्रित व्यक्ति और समाज की आस्थाएं निश्चय ही स्वतन्त्र देश के उल्लास और मनोबल से अनुप्रेरित है।

सन् 1950 के बाद, हिन्दी औपन्यासिक क्षेत्र में आंचलिक उपन्यासों का आगमन हुआ। जिन उपन्यासों को ग्रामांचल के उपन्यास कहा जाता है उसमें गांव की धरती, खेत -खलिहान, नदी-नाले, पशु-पक्षी, भाषा,गीत, त्योहार आदि इनके बीच रहने वाले व्यक्तियों के साथ समवेत रुप में वाणी पाते हैं। अर्थात् उपन्यास के पात्रों के साथ उनका परिवेश भी बोलता है। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास ही सही अर्थों में आंचलिक हैं। उनका 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' में ग्रामांचल की छोटी-छोटी घटनाओं, कथाओं, आचार-विचार, रीति-नीति, राजनीतिक-नैतिक अवधारणाओं आदि के विशद चित्र मिलते हैं। उदयशंकर भट्ट का 'सागर,लहरें और मनुष्य' भी इस धारा की प्रसिद्ध कृति है। इसमें बंबई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गांव के मछुओं की जीवन - कथा वर्णित है। रांगेय राघव के 'कब तक पुकारुँ' में जरायम-पेशा नटों की ज़िन्दगी को उजागर किया है। भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया उपन्यास है। राही मासूम रज़ा का 'आधा गांव' शिया मुसलमानों की ज़िन्दगी पर लिखा गया

पहला उपन्यास है जिसमें भारत-विभाजन के पहले और बाद की ज़िन्दगी को उभारा गया है। रामदरश मिश्र कृत 'पानी की प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी' भी अपने-अपने ढंग से प्रभावशाली ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। आधुनिकीकरण और बाहरी सभ्यता के संक्रमण के बीच निरन्तर बदल रहे गांव के विभिन्न आयामों को इन उपन्यासों में उद्‌घाटित किया गया है।

प्रयोगशील उपन्यास के आगमन से उपन्यासों में नये शिल्प के दर्शन हुए। इस दौर में कहानी का तत्व क्षीण हो गया जिससे कथानक का पुराना रुप विघटित होगया तथा ज़िन्दगी पूरे तौर पर विश्लेषित न होकर चेतना-प्रवाह और स्वप्न-दृष्टि के साथ जुड़ गयी। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उपन्यास इसका उत्तम उदाहरण है। इसमें आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में लिखा सात अलग-अलग कहानियां हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना कृत 'सोया हुआ जल' में एक यात्रीशाला में ठहरे हुए यात्रियों की एक रात की ज़िन्दगी का वर्णन है। नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' और बदीउज़्जमां का 'एक चूहे की मौत' भी अनेक प्रकार की विसंगतियों से भरे हुए प्रगतिशील उपन्यास हैं।

दो महायुद्धों और अस्तित्ववादी चिन्तन के फलस्वरुप आधुनिकता की जो स्थिति उत्पन्न हुई, उसे लेकर उपन्यासों की रचना

हुई। आस्थाविहीन समाज, अनिश्चय की स्थिति में लटके हुए इन्सान की अभिव्यक्ति देने की प्रथम कोशिश मोहन राकेश ने अपने उपन्यास 'अन्धेरे बन्द कमरे' में की। उनका दूसरा उपन्यास 'न आनेवाला कल' आधुनिकता से अधिक प्रभावित है। निर्मल वर्मा का 'वे दिन' पश्चिम के अर्थहीन परिवेश में छोटे सुख की तलाश को लेकर लिखा उपन्यास है। महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स',कमलेश्वर का 'डाक बंगला' और 'काली आंधी', श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार' आदि उपन्यास भी आधुनिकता के झोंके में लिखे गये हैं। आधुनिकता- बोध के उपन्यासों की परम्परा में निर्मल वर्मा का 'लाल टीन की छत' और मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी' भी काफ़ी प्रसिद्ध हैं। इस दौर के उपन्यासों में कहीं वैयक्तिक तो कहीं पारिवारिक-सामाजिक विषमताओं का मुखर विरोध मिलता है।

सातवें-आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास, गांव और शहर की मानव- चेतना को समग्रता, एकाग्रता और प्रामाणिकता से व्यक्त करने वाला सर्वाधिक सशक्त साहित्य-माध्यम बन गया। भारतीय स्वतन्त्रता से जो संभावनाएँ बनी थीं वे बाद में दिशाहीन होकर मरुस्थल में भटक गयीं। इस भटकाव ने भारत की नई पीढ़ी को मूल्यहीनता की स्थिति में खड़ा होने को विवश कर दिया। मंहगाई और भुखमरी ने जनता को निसहाय बना दिया। नौकरी की खोज में गांव छोड़कर बहुत बड़ी संख्या शहरों की ओर भागी। जीवन की नारकीय, त्रासद विडम्बनाओं

ने जीवन का एक नया सच पैदा किया। नया उपन्यासकार इसी सच को रचना में रोप रहा है। इस दौर के अधिकांश उपन्यासकार व्यक्ति-केन्द्रित रहा और व्यक्ति के माध्यम से समय और समाज की हालत को सामने लाया। इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक मुखर विस्फोट रमेशचन्द्र शाह के 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम', मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी' जैसे उपन्यासों में हुआ है। व्यक्ति के माध्यम से उपन्यासकार स्व और उसके आसपास के परिवेश से उलझता है- उसका ध्यान राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों पर जाता है- जिसने आज के ईमानदार व्यक्ति को भीतर से अकेला करके छील दिया है। उपन्यासों के पात्र अपनी नियति भी पहचानते हैं और राजनीति के तोताचश्म की उधेड़बुन में भी प्रवृत्त रहते हैं। इन स्व-केन्द्रित उपन्यासों में नर-नारी संबन्धों की छानबीन बहुत बारीकी से की जाती है। मृदुला गर्ग का 'चित्त कोबरा', निर्मल वर्मा का 'वे दिन', श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार' जैसे उपन्यासों में इन संबन्धों का एक अजीब-सा संसार उभरे।

सन् 1970 के बाद आंचलिकता से मुक्ति पाकर उपन्यासकार शहरी मध्यवर्ग की समस्याओं, चुनौतियों-स्थितियों की ओर मुड़े और इस चित्रण में सर्वाधिक चर्चा का केन्द्र दफ्तर की ज़िंदगी रही। गिरिराज किशोर का 'चिड़ियाघर', गोविन्द मिश्र का 'वह अपना चेहरा', भीष्म साह्नी की 'कड़ियाँ', बदीउज़्जमां का 'एक चूहे की मौत' आदि में महानगरीय दफ़्तरी-जीवन के अजीबोगरीब तस्वीर हैं।

जीवन के फैलाव, सामाजिक-आर्थिक विषमता, मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार को लेकर भारी संख्या में उपन्यास लिखे गये हैं। इस क्षेत्र की प्रतिनिधि रचना श्रीलाल शुक्ल की 'राग दरबारी' है। इसमें एक बड़े गांव के माध्यम से पूरी भारतीय आधुनिक ज़िन्दगी की मूल्यहीनता और संस्कारहीनता को उजागर किया है।

समग्रतः हिन्दी उपन्यास साहित्य में देश और काल की चेतना प्रखरता से अभिव्यक्त हो रही है। उपन्यास के भाषा-शिल्प में भी एक खुलापन आया है। नये-नये औपन्यासिक प्रयोगों ने जीवन की विविधता को वैचारिक स्तरों पर अभिव्यक्ति दी है।

समकालीन हिन्दी उपन्यास का परिदृश्य

औपनिवेशक पराधीनता से देश की मुक्ति के बाद हिन्दी उपन्यास के सामने उपस्थित हुए नव - यथार्थ के परिदृश्य में उसके बहुमुखी विचरण की अनन्त संभावनाएँ थी। उपन्यास अपने समय का साक्षी होने के साथ-साथ समय के साथ यात्रा भी करता है। लगभग समकालीन यथार्थ के सभी पक्षों की पूरी यथार्थता के साथ उपन्यास ने अपना विषय बनाया है। जीवन के सभी क्षेत्रों में आये बदलाव-चाहे वह सामाजिक हो या व्यक्तिपरक-का सच्चा चित्र उपन्यास में निहित है। यथार्थ को लेकर लिखे ऐसे उपन्यासों द्वारा ही समकालीन उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्तियों के बारे में जानकारी प्राप्त हो सकती है।

समकालीन उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भः-

भारत में लगभग एक हज़ार वर्षों से एक साथ रहने के बावजूद भी ऐतिहासिक कारणों से हिन्दू और मुसलमान प्रायः टकराव की स्थिति में रह रहे हैं। सत्ताधारियों और सत्ता-लोभियों ने अपने लाभ के लिए इन्हें टकराव की स्थिति में ही रखना बेहतर समझा। 1947 में भारत को ब्रिटिश उपनिवेशवाद से मुक्ति मिली। मुस्लिम लीग के 'दो राष्ट्र सिद्धान्त' के फलस्वरूप देश का बँटवारा हुआ और सारा उत्तर - भारत साम्प्रदायिकता की ज्वाला में दग्ध होने को अभिशप्त हुआ। इन साम्प्रदायिक दंगों में हज़ारों व्यक्ति मौत के घाट उतार डाले गये, लाखों विस्थापित हुए, स्त्रियों और बच्चों के साथ अमानुषिक अत्याचार किये गये और पूरे देश की विशाल जनसंख्या को अपना वतन छोड़कर भारत या पाकिस्तान में नये सिरे से बसना पड़ा। भारतीय संविधान लागू होने पर भारत धर्म और जाति - निरपेक्ष राष्ट्र बन गया लेकिन साम्प्रदायिक समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

भारतीय विभाजन जैसे अनहोनी और अमानवीय त्रासदी को उपन्यास का विषय बनाने वाले प्रथम उपन्यासकार देवेन्द्र सत्यार्थी थे। उन्होंने 'कठपुतली' में सांप्रदायिक दंगों के बाद पाकिस्तान से भारत और भारत से पाकिस्तान जाने वाले शरणार्थियों के काफ़िलों का दिल दहलनेवाला वर्णन किया है। यशपाल ने 'झूठा सच' में विस्थापितों के काफ़िले तथा शरणार्थियों के शिविरों का सजीव चित्रण करने के

साथ-साथ इस राष्ट्रीय त्रासदी के कारणों का विश्लेषण भी किया है।

देश-विभाजन के समय हुए साम्प्रदायिक दंगों की छाया उपन्यासकारों के मस्तिष्क में लंबे समय तक मँडराती रही जिसकी अभिव्यक्ति अनेक उपन्यासों में हुई। कमलेश्वर ने 'लौटे हुए मुसाफिर' में सांप्रदायिक हिंसा के अमानवीय पक्षों और पाकिस्तान के नाम पर छले गये मुसलमानों के मोहभंग का अंकन किया। भीष्म साहनी का 'तमस' उस अंधकार का द्योतक है जो आदमी की इंसानियत और संवेदना को ढँक लेता है और उसे हैवान बना देता है। देश के विभाजन और सांप्रदायिकता के मूल की स्थितियों और कारणों के विश्लेषण करके इस बात पर उन्होंने विशेष बल दिया है कि सांप्रदायिकता की आग फैलाने में ब्रिटिश शासन का हाथ था। अमृतलाल मदान कृत 'सिन्धुपुत्र', हरदर्शन सहगल कृत 'टूटी हुई ज़मीन', द्रोणवीर कोहली कृत 'वाह कैंप', प्रताप सहगल कृत 'अनहद नाद' आदि उपन्यासों में भी देश-विभाजन की त्रासदी और सांप्रदायिक दंगों से बचकर आए शरणार्थी परिवारों की कथा कही गयी है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय हुए दंगों का भारतीय मुसलमानों के जीवन पर दूरगामी असर हुआ था, जिसका अंकन अनेक उपन्यासों में हुआ। राही मासूम रज़ा ने 'आधा गांव', 'टोपी शुक्ला', 'हिम्मत जौनपुरी', 'ओस की बूँद', 'दिल एक सादा कागज़' आदि उपन्यासों में इन स्थितियों का विशद रूप में चित्रण किया है। 'आधा गाँव' में गंगौली

के मुसलमानों की स्वातंत्र्योपरान्त दयनीय स्थिति, अपने ही वतन में बेगाना बन जाने, सामान्य जीवनधारा से कट जाने और आर्थिक दृष्टि से विपन्न हो जाने का मार्मिक चित्रण है। 'दिल एक सादा कागज़' मुसलमानों की मोहभंग की मार्मिक प्रस्तुति है। बदिउज़्ज़मां कृत 'छाको की वापसी' में विभाजन के बाद बिहार से पूर्वी पाकिस्तान गये मुसलमानों के मोहभंग का चित्रण किया गया है। एहतेशाम ने 'सूखा बरगद' में विभाजनोपरान्त मुस्लिम मनोभाव को प्रस्तुत किया तो नासिरा शर्मा ने 'ज़िन्दा मुहावरें' में अपने ही देश में संदेहपात्र बनने के लिए अभिशप्त मुस्लिम समाज की नियति का परिचय दिया है।

भगवानदास मोरवाल कृत 'काला पहाड़' देश में बढ़ती हुई सांप्रदायिकता पर गहरी संवेदना से भरा हुआ विमर्श है। इसमें सामान्य जनता के मन में अफवाहों द्वारा अविश्वास, भय और आतंक पैदा करके उसे जुनून में बदल देने वाले सांप्रदायिक तत्वों का खुलासा हुआ है। प्रियंवद ने 'वे वहां कैद हैं' में संप्रदायवाद और उसके भीतर से पनपते हुए फासीवाद के भयानक चेहरे को पहचानने का प्रयास किया है। गीतांजलि श्री के 'हमारा शहर उस बरस' में और भगवान सिंह के 'उन्माद' में भी सांप्रदायिक उन्माद का चित्र है।

सांप्रदायिकता को विषय बनाकर लिखे उपन्यासों से एक बात ज़रूर सामने आ जाती है कि हिन्दी के उपन्यासकार सांप्रदायिक सोच और भावना की दृष्टि से उदार, मानवीय और प्रजातांत्रिक मूल्यों

से परिचालित हैं।

समकालीन उपन्यास में सांस्कृतिक मूल्यों के बिखराव और टकराहट का चित्रण

स्वतंत्रता के बाद, संस्कृति के नाम पर नये मूल्यों व मान्यताओं की स्थापना होने के कारण भारतीय संस्कृति में बिखराव आया है। जीवन के समस्त-विकास के लिए पाश्चात्य देशों की सहायता प्राप्त करने के कारण आज भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि में पिछड़ापन आया है। भारत की वर्तमान संस्कृति न देश की है, न विदेश की, उसे एक 'बेमेल खिचड़ी' मानना ही उपर्युक्त होगा। पाश्चात्य सभ्यता को फैशन और आधुनिकता का नाम देकर अधिकांश स्वतंत्र भारतीय बौद्धिकों ने अपनाया जो धीरे-धीरे सामान्य जनमानस के स्तर तक बढ़ता गया। आज यह सांस्कृतिक विघटन भारतीय परिवार की नींव तक को उजाड़ने में सक्षम बन गया है। परिवेश में फैलता मीठे ज़हर की तरह पाश्चात्य चिन्तन व्यक्ति को किसी निर्णय पर न पहुँचाकर छोड़ देता है। फलस्वरूप, व्यक्ति अपने चिन्तन, अपनी माटी और संस्कृति से कटता हुआ, दिखावटी चेहरा और नकली व्यवहार का प्रयोग करता हुआ अपने को रहस्य के आवरण में छुपाना चाहता है। पश्चिम से उधार ली हुई आधुनिकता का प्रभाव पारिवारिक विघटन के रूप में शुरु होकर सामाजिक विघटन में स्पष्ट होता जा रहा है। जागरूक समकालीन उपन्यासकार इन स्थितियों को देखकर चिन्तित है और वे

अपनी रचनाओं द्वारा जीवन में मूल्यों के पुनःस्थापन करने के भर्त्सक प्रयत्न में लगा हुआ है।

गिरिराज किशोर ने 'पहला गिरमिटिया' में दक्षिण अफ्रिका के गोरे उपनिवेशवादियों की स्थानीय और भारतीय मूल के निवासियों के प्रति घृणा, रंगभेद तथा क्रूरता का चित्रण करके सांस्कृतिक मूल्यों के टकराहट का चित्रण किया है। पीढ़ियों के बीच में पैदा होने वाला सांस्कृतिक दरार अमेरिका, यूरोप आदि पाश्चात्य देशों में रहने वाले प्रवासी भारतीयों की ज़िन्दगी में मानसिक द्वन्द्व की वजह बनता है। रवीन्द्र कालिया द्वारा रचित 'ए.बी.सी.डी.' उपन्यास इस मानसिक द्वन्द्व पर आधारित है। महेन्द्र भल्ला के 'दूसरी तरफ़', 'दो देश और तीसरी उदासी' जैसे उपन्यास भी भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के टकराहट और बिखराव पर आधारित है। इसी प्रकार, उदयप्रकाश का उपन्यास 'पीली छतरीवाली लड़की' भी भारतीय युवा पीढ़ी पर छाये पाश्चात्य संस्कृति के फलस्वरूप उत्पन्न सांस्कृतिक बिखराव का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है।

पारिस्थितिक शोषण पर आधारित समकालीन उपन्यास।

जो प्रकृति हमारे रक्षक है, आज उसका शोषण भारी मात्रा में हो रहा है। प्रकृति के शोषण के साथ जल और वायु को भी लोग विषलिप्त कर रहे हैं। इस पारिस्थितिक विनाश से उपन्यासकार सजग हुए और उनके उपन्यास इसका मिसाल हैं। जल, प्रकृति का

सबसे महत्वपूर्ण उपादान है। लेकिन इसकी स्वाभाविक गति को रोककर बाँधों का निर्माण करते हैं। विकास के नाम पर होने वाले इस शोषण से मानव-जीवन पर बुरा असर होता है। वहाँ से लोगों के विस्थापन के फलस्वरूप सैकड़ों गांवों के अस्तित्व मिट जाते हैं, जो मुख्यतः खेतीबारी पर आधारित थे। 'डूब' क्षेत्र में आने के कारण कई जगहों से भारी मात्रा में लोग विस्थापित हुए। नदियों की स्वच्छता की परवाह किए बिना बनाए इस बाँधों से हो रहे पारिस्थितिक शोषण के प्रति लोग चिन्तित हैं। वीरेन्द्र जैन जैसे उपन्यासकार अपने 'डूब' और 'पार' उपन्यासों के लिए ऐसी ही एक समस्या को अपना विषय बनाया। नासिरा शर्मा का 'कुइयाँजान' भी नदी और पानी की समस्या पर आधारित है।

विकास के नाम पर वायु और पानी का प्रदूषण आज सहज स्वाभाविक प्रक्रिया बन गयी है। संजीव के उपन्यास 'धार' और 'सावधान नीचे आग है' इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। 'धार' में बाँसगड़ा गांव में एक तेजाब का कारखाना खोलने के कारण वहां के पर्यावरण का हर तरह से प्रदूषण होता है। इसी तरह जिस तीव्र गति से भारत में खनन उद्योग का विकास हो रहा है, उतनी ही तीव्र गति में जंगलों का नाश भी हो रहा हैं। 'सावधान नीचे आग है' उपन्यास चंदनपुर के कोयला खदान पर आधारित है। लगातार खनन-कार्य होने से इलाका पूरी तरह प्रदूषित है। गंदे पानी पीने के कारण गांववाले और पशु-पक्षी

मर रहे हैं। सुभाष पंत का 'पहाड़ चोर', श्री. प्रकाश मिश्र का 'जहां बांस फूलते हैं', मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', तेजीन्दर का 'काला पादरी', भगवान दास मोरवाल का 'काला पहाड़' जैसे उपन्यासों में प्रकृति के शोषण का सविस्तार वर्णन हैं। समकालीन उपन्यासकार अपने चारों ओर होनेवाले पारिस्थितिक प्रदूषण के बारे में अपने उपन्यासों द्वारा अवबोध प्रदान करने के लिए तैयार हुए, यही सर्वथा महत्वपूर्ण है। समकालीन उपन्यास विकास के नाम पर होने वाले प्रकृति के शोषण और इसके फलस्वरूप मानवीय जीवन की क्षतिग्रस्तता पर गंभीरता से विचार करते हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में भूमण्डलीकरण और बाज़ारीकरण।

विदेशी गुलामी से मुक्ति के लिए पूर्वजों ने जो त्याग और बलिदान किए हैं, उन्हें भूलकर वर्तमान पीढ़ी अपनी महत्वाकांक्षा से पाश्चात्य संस्कृति के पीछे दौड़ रही हैं। गुलामी के इस दूसरे दौर का नाम है, भूमण्डलीकरण। यह भौगोलिक और प्रशासनिक सीमाओं से परे संसार-भर को एक ही बाज़ार बनाने का कार्य है। आर्थिक उदारीकरण एवं निजीकरण के द्वारा भूमण्डलीकरण सामान्य जन-जीवन को कठिन बना रहा है। इसकी रंगीन दुनिया में आकर भारत की नई पीढ़ी सांस्कृतिक पतन के नोंक पर आ खड़ा है।

समकालीन उपन्यासकारों की अनेक रचनाओं पर भूमण्डलीकरण और बाज़ारीकरण के बुरे प्रभावों का अंकन हैं। अलका

सरावगी ने 'कलिकथा बाया बाईपास' उपन्यास में भूमण्डलीकरण के बुरे प्रभाव मं फंसे युवा पीढ़ी को ठीक राह पर चलाने के लिए गांधी विचारों की पुनः प्रतिष्ठा आवश्यक मानती है। रवीन्द्र वर्मा ने भी 'निन्यानबे' उपन्यास द्वारा आज़ादी के बाद भारतीय युवा पीढ़ी में प्रविष्ट उपभोक्तावादी मानसिकता का अंकन किया है। भूमण्डलीकरण का मकसद, मनुष्य और उसके मूल्य नहीं, मुनाफ़ा और बाज़ार-मात्र है। इस सिलसिले में देश की सभ्यता और संस्कृति तक मिट जाती है। उदयप्रकाश ने 'पीली छतरीवाली लड़की' में भूमण्डलीकरण और बाज़ारीकरण के तहत वस्तु बन रहे आदमी का चित्र प्रस्तुत किया है। इन उपन्यासों के द्वारा पाश्चात्य बाज़ारीकरण के कारण भारत के सांस्कृतिक संकट से उत्पन्न नाज़ुक स्थिति को प्रस्तुत करने में समकालीन उपन्यासकार पूरी तरह सफल हुए।

समकालीन उपन्यास में गाँधी चिन्तन

भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण इत्यादि नवउपनिवेशक तत्वों के प्रभाव में आकर भारत के युवा पीढ़ी पूर्णतः भारतीय संस्कृति से दूर चले गए हैं। इसलिए समकालीन उपन्यासकारों ने समकालीन जीवन के अनुकूल गाँधीवाद को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास उपन्यासों द्वारा किया है ताकि युवा पीढ़ी गाँधीवाद के ज़रिए भारतीय संस्कृति के साथ उनके जुझाव को, आत्मीय संबन्ध और अपनेपन को पहचान सके। समकालीन परिवेश में गाँधी के महत्व को

पहचानने के लिए टाइम पत्रिका में प्रकाशित लेख, 'मुक्ति का महायोद्धा गाँधी' में नेल्सन मंडेला का कथन बहुत महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार, 'आज जब हम रोज़गार को छीननेवाली अर्थव्यवस्थाओं के चंगुल में हैं- ऐसी अर्थव्यवस्थाएँ, जिसमें मुट्ठी-भर लोग उपभोग करते हैं जबकि अवाम भुखमरी के शिकार हैं - ऐसी स्थिति में हम इस बात के लिए बाध्य हैं कि हम अपने वर्तमान वैश्वीकरण के मूलाधारों से गौर करें और गांधी के विकल्प पर पुनर्विचार करें।' समकालीन उपन्यास में गाँधी का सच्चा इस्तेमाल गांव केन्द्रित कई उपन्यासों में नज़रअंदाज़ कर सकते हैं। कहीं गांधीजी प्रतीकात्मक रूप में है तो कहीं विचारधारा के रूप में और कहीं विभिन्न विचारधारा के ज़रिए गाँधी समकालीन उपन्यास में प्रवेश करते हैं।

गिरिराज किशोर द्वारा रचित उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' गाँधीजी के महात्मा पक्ष के बजाय उनके मोहनदास-पक्ष पर प्रकाश डालता है। इस उपन्यास ने गाँधीजी को इतिहास के बन्द दायरों से उठाकर फिर से हमारे आगे रू-ब-रू-खड़ा कर दिया है। यहाँ गाँधी भी तमाम आम भारतीयों की तरह एक आम आदमी है जिसमें भय, संकोच, घबराहट और ढेरों मानवीय कमज़ोरियाँ हैं। औपनिवेशक शासन के दमन और शोषण को सर्वथा अस्वीकार करके उसके खिलाफ़ सर्वप्रथम संघर्ष शुरू किए गाँधी को इस उपन्यास का नायक बनाकर गिरिराज किशोर भारतीय युवा पीढ़ी को पाश्चात्य संस्कृति के चंगुलों से निकालना

चाहते हैं।

कई समकालीन उपन्यासों में गाँधी कई पात्रों के माध्यम से पाठकों के बीच आते हैं। वीरेन्द्र जैन के 'डूब' नामक उपन्यास में माते नामक पात्र एकदम गांधी जैसा ही है। विकास के नाम पर शुरू हुए बाँध-निर्माण के कारण पर्यावरण और जन - जीवन पर आये बुरे असरों को लेकर चिन्तित माते हमें गांधी की याद दिलाता है। माते ने भी अपनी लंबी जीवन-यात्रा गाँधी के समान सत्य की तलाश में व्यतीत की, गाँधी के सदृश वह भी अपनी ज़िन्दगी के अंत तक सत्य को सत्ता से टकराता चलता है।

अलका सरावगी का उपन्यास 'कलिकथा बाया बाईपास' में एक विचारधारा के रूप में गाँधी अंत तक विद्यमान है। वर्तमान व्यवस्था के खिलाफ़ बोलनेवाला एक प्रतीकात्मक मानव की सृष्टि उपन्यासकार ने की है वह रूप एवं आदर्श में बिल्कुल गाँधी ही है। मैत्रेयी पुष्पा के 'बेतवा बहती है', 'इदन्नमम', 'चाक्', 'अल्माकबूतरी' जैसे उपन्यासों में गांधी के विचारों को स्वीकार कर प्रकृति एवं पर्यावरण की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करने वाले पात्रों को देख सकते हैं। उदयप्रकाश ने अपने उपन्यास 'पीली छतरीवाली लड़की' में खुलकर यह विचार प्रकट किया है कि हमारे देश का सुधार गांधीवादी विचारों से ही संभव है।

समकालीन उपन्यासों में बुलन्द आवाज़ यह है कि आज

के संदर्भ में केवल गांधीजी ही विकसित औद्योगिक समाज की समीक्षा है।

समकालीन उपन्यास में ऐतिहासिकता।

इतिहास, अतीत का वह अंश है जो प्रमाण-आश्रित होता है। यह प्रमाण प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होता है और प्रायः लिखित होता है। विद्वान इन तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण करके अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, जिसे हम 'इतिहास' कहते हैं। आज़ादी के बाद प्रकाशित अनेक उपन्यासों में व्यापक फलक पर राजनीतिक या सामाजिक स्थिति का चित्रण किया गया, जिनमें से कुछ इतिहास की सीमा में भी आते हैं। इस दौर में लिखित अनेक उपन्यास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक के समय का चित्रण करते हैं जो स्वातन्त्रयोत्तर भारत के अनेक उपन्यासकारों के लिए इतिहास है।

कमलाकान्त त्रिपाठी ने 'पाहीघर' में प्रथम स्वाधीनता संग्राम का और 'बेदखल' में तीसरे - चौथे दशकों का, अमृतलाल नागर ने 'करवट' में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध का तथा कृष्णा सोबती ने 'जिन्दगीनामा' में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक का चित्रण किया है। इन्हें 'निकट इतिहास पर आधारित उपन्यास' कहा जा सकता है।

विशंभरनाथ उपाध्याय के 'जाग मछन्दर गोरख आया' और 'जोगी मत जा', शिवप्रसाद सिंह के 'कुहरे में युद्ध' और 'दिल्ली दूर है'

आदि मध्यकालीन इतिहास पर आधारित उपन्यास हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास पर आधारित उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री कृत 'वैशाली की नगरवधु', राहुल सांकृत्यायन कृत 'मधुर स्वप्न', यशपाल कृत 'अमिता' आदि उल्लेखनीय हैं। वैदिक और पौराणिक साहित्य पर आधारित उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री कृत 'वयं-रक्षामः', हज़ारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'अनामदास का पोथा', शिवप्रसाद सिंह कृत 'वैश्वानर', नरेन्द्र कोहली कृत 'अभ्युदय' और 'महासमर' तथा भगवान सिंह कृत 'अपने अपने राम' उल्लेखनीय हैं। 'अभ्युदय' में परम्परागत रामकथा को नया रूप और सर्जनात्मक रूप देने का प्रयास है। 'महासमर' महाभारत पर आधारित है। 'अनामदास का पोथा' में प्रस्तुत आध्यात्मिक विचार उपनिषदों से, विशेषकर बृहदारण्यक और छान्दोग्य से लिये गये हैं।

इन उपन्यासों में समकालीन उपन्यासकारों ने अतीत का संवेदनात्मक स्तर पर सर्जनात्मक उपयोग किया है।

समकालीन उपन्यास में आँचलिकता

स्वतन्त्रता - प्राप्ति के पश्चात् जब प्रादेशिकता प्रखर वेग से प्रस्फुरित हुई तो हर किसी का ध्यान अपने अंचल की ओर गया और आंचलिक उपन्यासों की धारा पूर्ण वेग से चलने लगी। ऐसे उपन्यासों में किसी विशेष प्रदेश या अंचल को लेकर उसके जन-जीवन का यथार्थ एवं सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया जाता है। समकालीन उपन्यासकारों ने नए रूप में अनेक आंचलिक कहने वाले उपन्यास लिखे जिसके

माध्यम से विभिन्न अंचलों की पूरी जानकारी प्राप्त हो सकी। अंचल केन्द्रित ग्रामीण परिवेश को लेकर एवं कई उपेक्षित जनजातियों को अपने अंचल विशेष के साथ प्रस्तुत करने वाले कई समकालीन उपन्यास हैं जिसमें यथार्थ की अभिव्यक्ति है।

वीरेन्द्र जैन का 'डूब' लडैई गांव की जनता के वास्तविक जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है और 'पार' राउत जनजाति की करुण-गाथा है। विवेकी राय का 'सोनामाटी' उत्तर प्रदेश के करइल क्षेत्र को केन्द्र बनाकर लिखे गये, आंचलिकता की दृष्टि से विचारणीय उपन्यास है। मैत्रेयी पुष्पा के 'बेतवा बहती है', 'चाक्', 'इदन्नमम' जैसे उपन्यासों में समाज के कई मुद्दों को उभारने के लिए आँचल या ग्रामीण वातावरण को अपनाया गया है।

समाज के हाशिए की कुछ विशेष जातियों, जनजातियों एवं आदिवासियों को केन्द्रिय विषय बनाकर लिखे कई उपन्यासों में उनके आँचलों का भी परिचय मिलता है। हाल ही में प्रकाशित ऐसे उपन्यासों में प्रमुख हैं : मैत्रेयी पुष्पा का 'अलमा कबूतरी', भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़', संजीव का 'जंगल जहां शुरु होता है', श्रीप्रकाश मिश्र का 'जहां बांस फूलते हैं', मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', तेजीन्दर का 'काला पादरी', वीरेन्द्र जैन का 'पार' आदि। प्रायः सभी समकालीन आँचलिक उपन्यासों की विशेषता पर्यावरण संबन्धी बोध है क्योंकि इन उपन्यासों में पर्यावरण को बचाने और प्रकृति

की संपदा के संरक्षण की कोशिश भी की गयी है।

समकालीन उपन्यास में दलित-विमर्श

परम्परागत वर्ण- व्यवस्था में शूद्र और पंचम वर्ण के अंतर्गत आनेवाले समुदाय को, जो सवर्णों द्वारा अस्पृश्य माना जाता है, 'दलित' कहा जाता है। इनमें आदिवासी वर्ग भी शामिल है। हिन्दी में प्रेमचन्द से सहानुभूतिपूर्ण दलित-विमर्श आरंभ हुआ। आज़ादी के बाद, भैरव प्रसाद गुप्त और नागार्जुन ने अपने उपन्यासों द्वारा दलित वर्ग के आर्थिक और दैहिक शोषण का अंकन किया।

समकालीन उपन्यासों में दलित जीवन के विविध पहलुओं का अंकन गहरी सहानुभूति और वैचारिक प्रतिबद्धता से हो रहा है। जगदीशचन्द्र ने 'नरक कुण्ड में वास' उपन्यास में पंजाब की ग्रामीण पृष्ठभूमि में दलितों की नारकीय जीवन-स्थितियां प्रस्तुत की गयी है। शैलेश मटियानी कृत 'सर्पगन्धा' का विषय पर्वतीय क्षेत्र का दलित समाज है जो अपने अधिकार की लड़ाई लड़ रहा है। शिवप्रसाद सिंह ने विन्ध्य क्षेत्र के नटों के कबीलाई जीवन को अपने उपन्यास 'शैलूष' में विषय बनाया है। संजीव के 'धार' में छोटा नागपुर के आदिवासियों तथा बाहर से आकर बस गये गुलगुलिया, बाहुरी, मोची आदि दलित-जनों पर कोयला-माफियाओं, ठेकेदारों और पुलिस के अत्याचार और शोषण की कहानी है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'अल्मा कबूतरी' में अपमान, विवशता और पीड़ा से लबालब ज़िंदगी जीने वाले बुंदेलखण्ड क्षेत्र के

कबूतरा जाति का चित्रण किया है। गिरिराज किशोर के 'यथाप्रस्तावित' और 'परिशिष्ट' में सामाजिक उत्पीडन के शिकार तथा प्रशासनिक और शैक्षणिक व्यवस्था के अमानवीय ढाँचे में पिसते छटपटाते दलित वर्ग का चित्रण हैं। जयप्रकाश कर्दम कृत 'छप्पर' संभवतः किसी दलित लेखक द्वारा दलित जीवन पर लिखा पहला उपन्यास है जिसमें अपने जीवन में भोगे हुए अनुभव के आधार पर दलित समाज के उत्पीड़न का वर्णन किया गया है। सुबोध कुमार श्रीवास्तव के 'हीरा परा बाज़ार में', मदन दीक्षित के 'मोरी की ईंट', तेजीन्दर के 'उस शहर तक' आदि दलित वर्ग पर आधारित उपन्यास हैं।

समकालीन उपन्यासकारों ने मात्र सहानुभूति से नहीं, बल्कि तीव्र संवेदना के साथ दलित जीवन का अंकन किया है।

सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पतन पर आधारित समकालीन उपन्यास

पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ। इसके कारण भारतीय संस्कृति की मूल मान्यताओं में बिखराव आ गया। संस्कृति, मन की हृदय की वृत्तियों को संस्कार द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना है। इसके सहारे मनुष्य अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन -व्यवस्था व आदर्शों का निर्माण करता है। लेकिन, आज भारत की महान संस्कृति पतन के रास्ते पर अग्रसर हो रहे हैं। इस सांस्कृतिक बिखराव में लगभग समाज का हर मूल्य और व्यवस्था प्रभावित होती जा रही है। जागरूक समकालीन

उपन्यासकार ने इन स्थितियों को देखकर चिन्तित होकर इस सांस्कृतिक विघटन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। अलका सरावगी ने 'कलिकथा बाया बाईपास' में और उदयप्रकाश ने 'पीली छतरीवाली लड़की' में इस भारतीय-पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट और फलस्वरूप उत्पन्न सांस्कृतिक पतन का सफल चित्रण किया।

भारत की सामाजिक व्यवस्था, कृषि पर आधारित थी। लेकिन, आज के बदलते परिप्रेक्ष्य में एक जटिलता ने सारी सामाजिक व्यवस्थाओं और मान्यताओं को झकझोर कर रख दिया है। औद्योगीकरण के कारण भारत में ग्रामीण संस्कृति का नाश और शहरी संस्कृति का विकास हो रहा है। शहरी सभ्यता की बढ़ती भीड़ में व्यक्ति अपने को अकेला और अजनबी महसूस करने लगा है। समकालीन उपन्यासकार भी इस सामाजिक पतन से अनभिज्ञ नहीं रहा और अनेक समकालीन उपन्यासों में इसका सच्चा बयान निहित है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में निहित शोषण की स्थिति को पाकर सामान्य जनता का मोहभंग हुआ और इस व्यवस्था के ज़िम्मेदार लोगों के प्रति अपने उपन्यासों द्वारा आक्रोश-भावना व्यक्त करने में समकालीन उपन्यासकार सफल भी हुए हैं। समकालीन परिवेश में गुटबाज़ी, चमचागिरी और अवसरवादिता भारतीय राजनीति का अंग बन चुकी है। आज ऐसा लगता है कि इसके बिना राजनीति नहीं की जा सकते। आज की राजनीति में पुलिस की दलाली, गुण्डागर्दी और

शोषण की प्रवृत्ति आम हैं। नेता-गण राजनीतिक अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए भ्रष्टाचार को खुलेआम प्रश्रय देते हैं। ऐसे विषय परिस्थिति में इस परिवेश से पूर्णतः परिचित समकालीन उपन्यासकार अपने उपन्यासों के ज़रिए राजनीति के सभी साजिशों के प्रति पाठकों को सचेत करते हैं।

राजकृष्ण मिश्र ने 'दारुलसफा' में समकालीन राजनीतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार का विश्वसनीय अंकन किया है। विभूतिनारायण राय के 'किस्सा लोकतंत्र' नामक उपन्यास में भ्रष्टाचार, लम्पटता, चुनावी तिकड़म, राजनीतिक हिंसा आदि से विकृत लोकतंत्र का यथार्थ चित्र है। 'विश्रामपुर का संत' में श्रीलाल शुक्ल ने एक पाखंडी नेता का चरित्र प्रस्तुत किया है। संजीव के 'जंगल जहां शुरू होता है' में थारु जनजाति तथा उस क्षेत्र के डाकुओं, राजनीतिज्ञों, पुलिस और प्रशासन के बीच छिड़ी जंग का चित्रण है।

देश में राजनीति के अपराधीकरण और अपराध के राजनीतिकरण की बढ़ती प्रवृत्ति भी समकालीन उपन्यासों के विषय हैं।

समकालीन उपन्यास में विस्थापन का यथार्थ

विस्थापितों के यथार्थ पर आधारित अनेक उपन्यासों के द्वारा समकालीन रचनाकार विस्थापन के विभिन्न पहलुओं का सविस्तार वर्णन किया है।

विकास के कारण किये गये निर्माणों के कारण अपनी मिट्टी

से विस्थापित हुए लोगों की करुण-गाथा है वीरेन्द्र जैन कृत 'डूब' और 'पार'। 'डूब' में विस्थापित हुए ग्राम्य समाज की कथा है तो 'पार' में आदिवासी समाज की कथा है। इसी प्रकार, भारी मात्रा में लोगों के विस्थापन भारत-पाक विभाजन के वक्त हुआ और इस भीषण अवस्था का सच्चा, दिल दहलनेवाला वर्णन करने वाले उपन्यास हैं : यशपाल का 'झूठा सच', भीष्म साहनी का 'तमस', गुरुचरण दास कृत 'कहानी एक परिवार की', कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' आदि। भारत - पाक विभाजन के परिणामस्वरूप दोनों देशों में शरणार्थी व मुहाजिर बने लोगों का चित्रण करने वाले उपन्यास हैः नासिरा शर्मा कृत 'जिन्दा मुहावरे', द्रोणवीर कोहली का 'वाह कैंप', देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कठपुतली', बदीउज़्ज़मां कृत 'छाको की वापसी' आदि।

दुनिया-भर में विस्थापन आज एक क्रूर सच्चाई की तरह उपस्थित व्यवस्था है और इसके अंतर्गत आये मानव-जाति अनेक परेशानियों से गुज़र रहे हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में हुए विस्थापन के विविध आयामों को समकालीन उपन्यासकार पूरी सफलता के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

समकालीन उपन्यास में जन-जाति का चित्रण।

भारत में बहुत-सी ऐसी जन-जातियां हैं जो सभ्य समाज के हाशियों पर डेरा लगाए सदियाँ गुज़ार देती हैं। अंग्रेज़ों ने उनके नाम 'अपराधी-कबीले' या 'सरकश जन-जातियां' रख दिया। स्वतन्त्र

भारत में समाज की मुख्यधारा के किनारे फेंक दिए गए इन अदृश्य लोगों की लड़ाई आज भी जारी है। इन्हीं अपरिचित लोगों की कहानी अनेक समकालीन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों का विषय बनाया। सरकार द्वारा किए गए लाखों-करोड़ों की परियोजनाओं के बावजूद भी ये जन-जातियां आज भी गरीब, अशिक्षित और भूख से आहत हैं। आज तो विकास के नाम पर उनके अस्तित्व को भी चुनौती दी जा रही है।

भारत के पश्चिमोत्तर इलाके मेव-राजपूताना से लेकर उत्तर-पूर्व मिजोरम की लुसाई हिल्स और मध्यप्रदेश के आदिवासी बहुल जिले, सरगुजा तक की जन-जातियों के जीवन-यथार्थ का भयावह तस्वीर पेश करने वाले उपन्यासों में प्रमुख हैंः संजीव का 'जंगल जहां शुरू होता है', राकेश कुमार सिंह का 'पठार पर कोहरा', मनमोहन पाठक कृत 'गगन घटा घहरानी', श्रीप्रकाश मिश्र का 'जहां बाँस फूलते हैं', तेजीन्दर का 'काला पादरी' आदि। इन उपन्यासों के द्वारा विभिन्न जन-जातियों के इतिहास-संस्कृति और रीति-रिवाज़ के बारे में ज्ञान प्राप्त होने के साथ-साथ इनके प्रति होने वाले विभिन्न प्रकार के शोषणों के बारे में भी पाठक अवगत हो जाते हैं।

प्रवासी - समस्याओं का खुला चित्रण करने वाले समकालीन उपन्यास

आजकल, बहुत से जो भारतीय आजीविका की तलाश में और बेहतर ज़िन्दगी की उम्मीद में विदेशों में रह रहे हैं, उन्हें 'प्रवासी भारतीय' कहलाते हैं। अंग्रेज़-शासन के वक्त बिहार, बंगाल और

उत्तरप्रदेश से अनेक लोगों को गिरिमिटिया मज़दूर बनाकर मॉरीशस, फिजी, त्रिनिडाड जैसे जगहों पर ले गये थे, उन लोगों की यातनाभरी जीवन के यथार्थ प्रस्तुत करने वाले अभिमन्यु अनत के उपन्यास हैं, 'लाल पसीना' और 'और पसीना बहता रहा'। भारतीय प्रवासियों पर हुए नृशंस शोषण की कथा रामदेव धुरन्धर कृत उपन्यास 'पूछो इस माटी से' का विषय है।

बेहतर ज़िन्दगी की उम्मीद में विदेशों में गए भारतीय अपने और युवा पीढ़ी के सांस्कृतिक टकराहट को लेकर आज काफ़ी चिन्तित हैं। पाश्चात्य सभ्यता में पले-बढ़े युवा पीढ़ी, भारतीय संस्कार को लेकर जीने वाले मां-बाप के लिए सिरदर्द का कारण बन गया है। ऊपर से, बाहरी दुनिया में भारतीयों को 'सभ्य' पाश्चात्य समाज से घोर अपमान का सामना भी करना पड़ रहा है। इन सबके कारण भारतीय प्रवासियों में असुरक्षा और ड़र की भावना फैल गयी है। प्रवासियों के अस्तित्व और अस्मिता के लिए होनेवाले संघर्ष को विषय बनाकर लिखे उपन्यासों में प्रमुख हैंः रवीन्द्र कालिया का 'ए.बी.सी.डी.', महेन्द्र भल्ला के 'दूसरी तरफ़', 'उड़ने से पेशतर', 'दो देश और तीसरी उदासी', सुषम बेदी कृत 'हवन', उषा प्रियंवदा कृत 'शेषयात्रा', नरेश भारतीय अरोड़ा कृत 'दिशाएँ बदल गई' आदि।

विदेशों में जीविका अर्जित करने वाले प्रत्येक संवेदनशील भारतीय प्रवासी का द्वन्द्व रू-ब-रू व्यक्त करने में इन सभी उपन्यासों ने

सफलता हाज़िल की है।

समकालीन उपन्यास में स्त्री - विमर्श

पहले की अपेक्षा गत दो दशकों में महिला जीवन की नाना समस्याओं को उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में अपेक्षाकृत अधिक संजीदगी के साथ अपना प्रतिपाद्य बनाया है। महिलाओं में आये जागरण और विकास के नए प्रकाश के बावजूद सामान्य अनपढ़ महिलाओं के साथ-साथ शिक्षित, कामकाजी और संभ्रान्त का भी नाना स्तर पर आज शोषण जारी है।

सिमोन द बउआर ने अपनी पुस्तक 'सेकेंड सेक्स' में विश्व की महिलाओं का सर्वेक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि महिलाएँ सर्वत्र उपभोग की वस्तुएँ हैं और उनका नाना प्रकार से जैसे-शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्तर पर-उपभोग होता है। भारत की सभ्यता और संस्कृति में नारी को देवी माना जाता है। वाल्मीकि रामायण में लिखा है - 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते तत्र देवता' - जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवता का वास होता है। यह धारणा कैसे खण्डित होती गयी और भारतीय नारियों को किन-किन समकालीन समस्याओं से जूझना पड़ता है- इसका विश्लेषण समकालीन उपन्यासों में हुआ है।

समकालीन उपन्यासों में नारी के तीन रूप दिखाई पड़ते हैं। पहले रूप में वह सदियों से चलती आ रही शोषण और अत्याचार की

स्थितियों की शिकार है। दूसरे रूप में वह नयी परिस्थितियों से पैदा हुई समस्याओं से जूझ रही है और तीसरे रूप में आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने, परम्परागत नारी संहिता की जकड़न को चुनौती देने और राजनीतिक दृष्टि से सबलीकरण की दिशा में अग्रसर होने के लिए संघर्षरत है।

मृदुला गर्ग कृत 'कठगुलाब', मैत्रेयी पुष्पा कृत 'अगनपाखी', अलका सरावगी कृत 'शेष कादम्बरी', प्रभा खेतान कृत 'छिन्नमस्ता' जैसे उपन्यासों में महिला जीवन की समकालीन समस्याएँ जैसे दाम्पत्य जीवन में दरार और विघटन, स्त्री का शारीरिक, मानसिक और आर्थिक शोषण, समाज में स्त्री की असमानता, उनके दोयम दर्जे में रहना, उनकी अस्मिता पर उठते प्रश्न-चिह्न, कामकाजी महिलाओं का आत्म-संघर्ष, नैतिकता एवं आधुनिकता का द्वन्द्व ऐसी परिस्थितियों का वर्णन हुआ है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से देखे तो समकालीन हिन्दी उपन्यास का विषय-रूपी आकाश बहुत विशाल है। जीवन के छोटे-से-छोटे पक्ष को भी मुख्य विषय बनाकर उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति उपन्यासकारों में बढ़ने के कारण उपन्यास-विधा का दिन-ब-दिन विकास होता जा रहा है और यह विकास उपन्यास को एक सफल साहित्यिक विधा बनाता है। आज के उपन्यासकार अपने चारों ओर के जीवन के प्रति सर्वथा अवगत है और जीवन के विविध पक्षों को लेकर उपन्यास लिख

डालने में माहिर हैं। इसलिए निसंदेह यह कहा जा सकता है कि ऐसे उपन्यासकारों के होते हुए समकालीन उपन्यास के उज्ज्वल भविष्य की कामना सर्वथा जायज़ है।

दूसरा अध्याय

विस्थापन - इतिहास एवं स्वरूप

भूमिका :

विस्थापन, बीसवीं शताब्दी की एक कारुणिक परिघटना है। विस्थापन का अर्थ होता है अपने घर से उजाड़ दिया जाना और घर का अर्थ सिर्फ मिट्ठी-गारे की दीवारें नहीं होतीं। घर का अर्थ होता है सुरक्षा का वह एहसास जो हमें जानवर से इन्सान बनाता है। घर का अर्थ होता है अपने पूर्वजों की स्मृतियां जिनके साथ और जिनके स्नेह की छाया में हम जीवन व्यतीत करते हैं। लेकिन विस्थापन, दुनिया भर के लोगों से सुरक्षा का वह एहसास, पूर्वजों की वह स्नेहिल छाया छीन ले गया। पीढ़ियों से रहकर आ रहे मिट्ठी से उजड़ जाने से लोग उस वातावरण से बेघर हो जाते हैं जिससे उनकी बहुत-सी स्मृतियां जुड़ी रहती हैं जो उन्हें ज़मीन से जुड़े होने का, अपने अस्तित्व का एहसास कराता है। ऐतिहासिक कालों से नए देशों की खोज में हुए देशांतरगमन और आर्थिक प्रगति के लिए किये गए प्रवजन और राजनीतिक संघर्षों से हुए पलायन विस्थापन के विविध पहलू हैं। श्रीलंका में तमिल इलम के लिए गृहयुद्ध, अनेक देशों में उत्पीड़क सरकारों द्वारा निर्दोष नागरिकों का उत्पीड़न, यूगोस्लाविया का विघटन, क्रोएशिया संघर्ष, वियतनाम-कंपूचिया संघर्ष, कुसांवो संघर्ष, इसरायल-अरब संघर्ष जैसे राजनीतिक संघर्षों के कारण से विश्व के अनेक देशों में विस्थापन की काली-लंबी छाया देखी जा सकती हैं। न सिर्फ राजनीतिक संघर्षों के कारण ही

नहीं, राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए प्रयुक्त आर्थिक उदारनीतियां व पूँजीवादी विकास के कारण भी दुनियाभर विस्थापन के पीड़ाजन्य प्रभाव दिखायी दे रहे हैं।

विस्थापन के सही अर्थ को समझने के लिए इसके विभिन्न पहलुओं पर गंभीरता पूर्वक अध्ययन करना बहुत ज़रूरी है। विस्थापन इस एक शब्द के अंदर बहुत से अर्थ निहित होते हैं और इन सब अर्थों के उचित ज्ञान से ही विस्थापन-संबंधी अध्ययन सार्थक हो जाएगा।

विस्थापन का ऐतिहासिक आख्यान

मानवीय जनसंख्या का ऐतिहासिक विस्थापन का आरंभ प्रायः दस लाख वर्ष पूर्व अफ्रिका से बाहर आकर 'होमोइरक्टस्' द्वारा यूरेशिया के आरपार किए गमनागमन से हुआ। 'होमोसापियन्स' अफ्रिका को उपिनवेशित करके ऑस्ट्रेलिया, एशिया और यूरोप के आरपार फैल गए। अमेरिका और शान्त द्वीपसमूह के अधिकतम भाग को भी उपनिवेशित कर दिया गया। पाषाण युग की क्रान्ति, इंडो-यूरोपीय विस्तार और तुर्की विस्तार जैसे मध्य काल के विशाल विस्थापन अन्य स्मरणीय विस्थापन कार्य हैं।

पूर्व आधुनिक समय से ही अन्वेषण युग और यूरोपीय उपनिवेश ने विस्थापन के गतिक्रम को अग्रसर कर दिया। उन्नीसवीं सदी में पांच करोड़ से अधिक लोगों ने यूरोप से अमेरिका की ओर प्रस्थान किया। अनैच्छिक दास व्यापार के कारण अठारहवीं सदी से ही

विस्थापन की गति शीघ्र हुई थी। उन्नीसवीं सदी में औद्योगीकरण के कारण इस प्रस्थान में अधिक वृद्धि आयी। करोड़ों लोग देहातों को त्यागकर शहरों की ओर चले जिसके कारण अपूर्व ढंग से नगरीकरण के स्तर बढ़ गए। यह घटना-व्यापार अठारहवीं सदी में ब्रिटेन में प्रारंभ हुआ बाद में विश्व के चारों ओर फैल गए और आज भी अनेक प्रदेशों में प्रवृत्त हो रहा हैं। सन् 1820 के बाद तीक्ष्ण गति में दास-व्यापार कम हो गए जिसने एशिया और यूरोप के खेतों में से स्वयं-सीमित संवैधानिक मज़दूर विस्थापन को जन्म दे दिया। जनसंख्या की वृद्धि ने कृषि सीमांत प्रदेशों को खोला और औद्योगिक केन्द्रों के उदय ने इच्छापूर्वक, प्रेरित और विवशित विस्थापन को प्रोत्साहित किया। बीसवीं सदी में परदेशीय मज़दूर विस्थापन की अवस्था तीस लाख विस्थापित प्रति वर्ष के अनुपात में बढ़ गए। ये विशाल विस्थापन धारा ने अनेक मार्गों में राज्यराष्ट्रों के निर्माण की प्रक्रिया को भी प्रभावित किया।

बीसवीं सदी में युद्ध और राजनीतिक कारणों से हुए विस्थापन में वृद्धि आयी। ओटोमान साम्राज्य के ह्रास के समय तुर्कों से बाल्कन की ओर ईसाई जनता ने प्रस्थान किया और उसी समय मुसलमान जनता बाल्कन से तुर्की की ओर गमन किया। बीसवीं सदी से पूर्व में चार लाख यहूदी लोगों ने पलस्तीन की तरफ़ प्रस्थान किया। रूसी नागरिक युद्ध के बाद लगभग तीस लाख रूसी जनता और जर्मन लोग सोवियत संघ से विस्थापित हो गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद,

जयप्राप्त पश्चिमी मित्र-राष्ट्र और सोवियत संघ के बीच सन् 1945 में हस्ताक्षरित 'पॉस्टॉम संविदा' के विधान ने मानवीय इतिहास में विस्थापन के नये अध्याय जोड़े गए और यह निश्चय ही बीसवीं सदी का विपुल विस्थापन है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशन का अंत हुआ जिसके फलस्वरूप बहुत से विश्वराष्ट्र विभाजित हो गए और अनेक नए राष्ट्रों का जन्म हुआ। राष्ट्रों के विभाजन ने मानव जाति के भारी विस्थापन को जन्म दिया। विस्थापन से जुड़े पलायन में भय, अनिश्चितता और कुंठा छिपी रहती है जिससे मुक्त होना सहज नहीं था। इस तरह विस्थापित हुए राष्ट्रों में भारत, जर्मनी, कोसोवो, पलस्तीन-इस्रायेल आदि शामिल हैं।

1950 के बाद बहुत से लोगों ने शिक्षा-प्राप्ति के लिए राष्ट्रों के बीच प्रवजन शुरू कर दिए। 1970 में तेल के कार्यक्षेत्र में आयी अभिवृद्धि के कारण लोग खाड़ी देशों की ओर उम्दे काम - सेवाओं की तलाश में प्रवासित हुए। 1990 से सूचना-प्रौद्योगिकी में आयी सहसा-वृद्धि ने संपूर्ण विश्व की युवा पीढ़ी को संयुक्त राज्य की ओर आकर्षित किया।

अपने मूल स्थान में नौकरी के सुअवसर प्राप्त न होने के कारण ऐसे अवसर ढूँढ़ने के लिए लोगों ने नये प्रदेशों व नए राष्ट्रों की ओर प्रस्थान किया। पर्याप्त धन अर्जित करने के बाद विस्थापितों का

एक बहुसंख्यक विभाग अपने निवासस्थान लौट आते हैं। परन्तु बहुमत विदेशों में ही रहने का निश्चय करते हैं, जहां भारी सांस्कृतिक अंतर के रहते विस्थापित लोग हमेशा 'अतिथि' के रूप में रह जाते हैं। वे अपनी मौलिक संस्कृति, परंपरा और भाषा को कायम रखने की कोशिश करते हैं और उसके लिए अपने बच्चों को भी प्रेरित करते रहते हैं। यह विचार पीढ़ियों के बीच के संघर्ष का कारण बना ज़िसने बाद में सांस्कृतिक अंतर का चरम रूप धारण कर लिया। अपनी जीवनवृत्ति की आशाओं को बढ़ाने केलिए अनेक लोग विदेशों में ही रहने का निर्णय कर लेते हैं। जो लोग अपने देश लौट आए वे प्रथम विस्थापन के बाद व्यक्तियों और घर के वातावरण में आये बदलावों से समझौता न कर पाने के कारण पुनः विस्थापन के लिए तैयार हो जाते हैं।

भौगोलिक विस्थापन को प्रोत्साहित करने में भूमंडलीकरण का बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आर्थिक संदर्भ में मज़दूर, काम-सेवाएँ, मूलधन और साधनों के बहाव को सुगम बनाने के लिए देशीय सीमाओं के बहिष्करण और न्यूनीकरण की कार्यविधि ही भूमंडलीकरण है। वर्तमान परिस्थिति में विश्वभर हुए नये अवसरों को प्राप्त करने के लिए लोग भारी मात्रा में विस्थापित होकर नये देशों में बसने लगे हैं। बहुत से अंतर्राष्ट्रीय समवायों ने भूमंडलीकरण के कारण नये देशों और प्रदेशों में अपने व्यापार शुरू कर देते हैं जिसके चलते अनेक स्थानीय लोगों को विस्थापन का दर्द सहना पड़ रहा है।

विस्थापन के प्रकार और कारण-तत्व।

विस्थापन के मुख्य प्रकारों में स्थायी या अस्थायी विस्थापन, स्वैच्छिक या बलात् विस्थापन और आंतरिक या अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन प्रमुख हैं। एक राष्ट्र सीमा के अंदर लोगों का प्रस्थान 'आंतरिक विस्थापन' है और अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं के आरपार लोगों की प्रस्थिति 'अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन' है। मानवीय अवस्थाओं में विस्थापन हमेशा एक अविभाज्य तत्व है और यह एक नित्य बदलनेवाली दुनिया के नमूने प्रतिबिंबित करते हैं। क्षेत्रीय विस्तार, व्यापार एवं आर्थिक प्रसारण, काम-सेवाओं की तलाश, प्राकृतिक संकट या जोखिमों का कम खतरा, अधिक सुरक्षा की उम्मीद आदि 'स्वैच्छिक विस्थापन' है तो वंशीय प्रभेद, प्राकृतिक अनर्थ जैसे अंधड़, बाढ़ और भूकंप, आर्थिक और धार्मिक उत्पीड़न आदि से 'अनिवार्य विस्थापन' संपन्न होता हैं।

विस्थापन के इन प्रमुख प्रकारों के साथ-साथ ऐसे भी प्रकार शामिल हैं जिनमें विस्थापन के तहत आनेवाले कई तत्वों के विशद वर्णन निहित हैं। जैसे, मौसमी प्रस्थान, भ्रमण या जनसंख्या की अदला-बदली 'चक्रवत् विस्थापन' हैं तो मज़दूरों के प्रस्थान, सैनिक सेवा केलिए और चरागाह खेतों की तलाश में किये गये स्थानान्तरण 'सामयिक विस्थापन' है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच मानव द्वारा होनेवाले प्रस्थान 'पलायित विस्थापन' है, इसी तरह ग्रामीण स्थानों से विकसित शहरों की ओर हो रहे विस्थापन 'देहाती विस्थापन' है।

पिछले कई दशाब्दों में विस्थापन के कारक-तत्वों में काफ़ी सुधार आये हैं। कुछ स्थितियां स्थिर हैं तो कुछ परिवर्तनशील हैं। संपूर्ण स्तर पर विस्थापन के कारणों को दो प्रधान वर्गों में विभेद किया हैः विस्थापन के सुरक्षा परिमाण (प्राकृतिक संकट, कलह और विरोध, व्यक्ति सुरक्षा पर हुई धमकी, तुच्छ राजनीतिक आशाएं) और विस्थापन के आर्थिक परिमाण (तुच्छ आर्थिक अवस्था, देशीय बाज़ार की न्यून अवस्था)

विस्थापन के कारक- तत्वों में प्रधान बने दवाब तत्व और खिंचाव तत्व ऐसे दो तत्व हैं जो लोगों को विस्थापन की ओर या तो आकृष्ट करते हैं या बलपूर्वक खींचते हैं। दबाव तत्व, प्रभावयुक्त है और जिस देश से एक व्यक्ति या समूह विस्थापित हो रहे हैं उससे संबंधित तत्व है। कुछ समस्याओं की वजह से ही लोग प्रायः विस्थापन के लिए तैयार हो जाते हैं। अनावृष्टि, अकाल, काम-सेवाओं का तुच्छ अवसर, प्राचीन या आदिम स्थितियों का अस्तित्व, राजनीतिक आशंकाएँ, प्राकृतिक संकट, दासत्व, पर्यावरण के प्रदूषण जैसे कठिन परिस्थितियाँ ही एक निश्चित स्थान से व्यक्ति या समूह को दूर ढकेलती है। इस तरह अपने उद्‌गम देश या स्थान से मजबूरीवश या बलपूर्वक हो रहे विस्थापन दबाव तत्व के उदाहरण हैं। एक व्यक्ति जिस देश की ओर विस्थापित हो रहा है, खिंचाव तत्व उससे संबंध रखता है। प्रायः एक प्रदेश से मिलनेवाले लाभ ही व्यक्ति या समूह को उस ओर आकर्षित करते हैं।

काम-सेवाओं के सुअवसर, श्रेष्ठतर जीविका-प्राप्ति का अवसर, राजनीतिक और धार्मिक स्वतंत्रता, शिक्षा, सुरक्षा जैसे मानव को मूल धरती से अलग होने के लिए प्रोत्साहित कारक विस्थापन के खिंचाव तत्व के अंतर्गत आते हैं।

विस्थापन की परिभाषा।

सामान्य शब्दों में, मूल से उखड़कर इधर-उधर बिखर जाना ही 'विस्थापन' है। लोग जब अपने जन्मस्थान और निवास-स्थान छोड़कर एक नये स्थान की तरफ़ गमन करते हैं उस प्रक्रिया को 'विस्थापन' कहते हैं। विस्थापन, एक सीमा को पार करने का एकमात्र कार्य नहीं है बल्कि इसमें संबद्धित व्यक्तियों के जीवन के समस्त पक्षों को प्रभावित करनेवाली एक जीवनपर्यन्त प्रक्रिया है। ऐसी परिस्थिति में विस्थापन की परिभाषा यह होगी कि "विस्थापन, मूलतः एक व्यक्ति या समूह द्वारा जोखिमों और हितलाभों को तोलने के बाद कम उपयुक्त वातावरण से अधिक लाभदायक स्थान की ओर गमन करने का परिमेय निर्णय है।" वर्तमान संदर्भ में, राजनीतिक अभियोग, आंतरिक कलह, विकास योजनाओं, पारिस्थितिक पदावनति के कारण लोग स्थानान्तरण करते हैं। इसलिए समकालीन परिवेश में विस्थापन की परिभाषा इस प्रकार है : "विस्थापन, ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के होते हैं जो आंतरिक कलह, मानव अधिकारों के सामान्य तिरस्कार, प्राकृतिक व मानव-गठित संकट या इन तत्वों के संयुक्त प्रभावों के कारण अपने घर

व पारंपरिक निवास स्थानों को छोड़कर जाने के लिए बाद्य होते हैं और जो अंतर्राष्ट्रीय तौर पर अभिज्ञानित राज्य सीमाओं को पार नहीं करते।"

विस्थापन के विविध रूप

जीवन की प्रगति के साथ-साथ विस्थापन के मूल अर्थ में भी बदलाव आया है। अपनी इच्छा से एक स्थान से लोग विस्थापित होते हैं, साथ में मजबूरीवश या बलपूर्वक भी लोग विस्थापित हो जाते हैं। स्वेच्छा से स्थानान्तरण करनेवाले अपने निर्णय से खुश होते हैं और दूसरी जगह बसने में भी कामयाब हो जाते हैं। लेकिन विस्थापन करने के लिए मजबूर लोगों की अवस्था बहुत चिन्तित हैं। अपने देश या मिट्ठी से बलपूर्व या मजबूरन निकलने से लोग मानसिक रूप से टूट जाते हैं और दूसरी जगह पर रहते हुए भी उनके मन में हमेशा मूल मिट्ठी की यादें ताज़ी रहती हैं और वे वहां लौट जाने के लिए तरसते रहते हैं।

विस्थापन के रूपों में प्रमुख है प्रवजन या देशांतरगमन यानी एक देश से दूसरी देश में जाकर बसना। यह विश्व-व्यापी कार्यकलाप है जिसके पीछे सर्वथा आर्थिक कारण रहे हैं। जीवन को अधिक सुखमय बनाने के सपने देखकर लोग अपने देश से प्रस्थान करते हैं और यह विस्थापन मजबूरीवश है। लोग अपने घर-परिवार, देश और मिट्ठी से अलग होकर एक अन्य देश और परिवेश में चला जाता है। माहौल बदल जाने से उसकी ज़िंदगी में बहुत-सी विषमताएँ

और उलझनें आती हैं। उनकी मान्यताएं बदलने लग जाती हैं। इस नये परिवेश के घुटन-भरे माहौल में लोग मजबूरी में रहते हैं सिर्फ इसी प्रतीक्षा में कि उनकी आर्थिक उन्नति होने के बाद वे अपना देश लौट जाएँगे। पर भारतीय अर्थव्यवस्था में बेरोज़गारी की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। भारत लौटकर बेरोज़गार रहने की आशंका से आहत होकर प्रत्येक प्रवासी मजबूरन विदेशों में रह रहे हैं। विश्व के लगभग 136 देशों में भारतवंशी निवास करते हैं और इनकी संख्या का अनुमान दो करोड़ हैं। हर तरह के लोग भारत से गये हैं जिनमें कुशल और अकुशल श्रमिक, कारीगर, औद्योगिक क्षेत्र में काम करनेवाले, डॉक्टर, इंजीनियर, कंप्यूटर विशेषज्ञ आदि शामिल हैं। नए परिवेश में रहते हुए भी प्रत्येक प्रवासी पलट-पलटकर पीछे की ओर देखता है जहां से वह आया है।

जिस देश में प्रवासी मौजूद है वहां की आर्थिक स्थिति स्वस्थ होगी और यह विभाग प्रत्येक देश के निवृत्तिवेतन को भी बांधकर रखने में सहायक है। प्रवासी अपनी तन्खवाह के 87 प्रतिशत आतिथेय देश में ही कर के रूप में या जीवन-निर्वाह के लिए उपयोग करते हैं। वे अपने अर्जित धन के 13 प्रतिशत 'प्रेषित रकम' के रुप में अपने मूल देश भेजते हैं। 2007 में प्रेषित रकम के रूप में वर्धमान देशों में भेजी गई राशि 251 अरब डॉलर था। अनेक राष्ट्रों के रोज़गार विकास में भी प्रवासियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आर्थिक स्थिरता के समय,

व्यर्थता का आवेग सबसे पहले बरदाश्त करनेवालों में यही लोग प्रथम आते हैं क्योंकि अस्थायी, लचीले और अंशकालिक काम करनेवालों में यही लोग प्रमुख हैं। 'ग्लोबल फॉरम् ऑन माइग्रेशन ऑन्ड डिवलप्मेंट' के अधिवेशन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव बान् की मून ने वित्तीय संकट से जीर्ण राष्ट्रों से यह बताया कि प्रत्येक राष्ट्र अपने द्वार विदेशी दक्ष मज़दूरों के लिए खुले रखे। कुशल व्यक्तियों के अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन से प्रापक देशों के दक्षण वृत्तिदान का निर्माण तो हो जाते हैं लेकिन मूल देशों के मानव-पूँजी के संचय में घाटा लग जाते हैं। यह प्रक्रिया प्रायः 'मस्तिष्क-प्राप्ति' और 'मस्तिष्क-बहाव' के नाम से निरूपित करते हैं। निपुण जनसंख्या के पांच से दस प्रतिशत के बीच हुए मस्तिष्क-बहाव से मूल देशों में स्पष्ट प्रभाव ही होते हैं। प्रवासी के साथ होनेवाले ज्ञान संबंधों से प्रौद्योगिकी एवं धन-विनियोग के क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं। 'ग्लोबल कमिशन् ऑन इंटरनेशनल माइग्रेशन', मस्तिष्क संचरण की धारणा को प्रचरित करता है जिसमें प्रवासी अपने मूल देश लौट आने के बाद विदेशों से अर्जित प्रवीणता और द्रव्यसाधनों का लाभ अपने ही देश के हित के लिए बाँटने के लिए तैयार होंगे।

एक राष्ट्र के विभाजन से होनेवाले प्रवजन भी मजबूरी में किये हुए विस्थापन हैं। भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, पलस्टैन, इस्रायल जैसे बहुत से राष्ट्र आज भी विभाजन का दर्द सह रहे हैं। ऐसी

हालात में अपने देश से मजबूरन निकाले गये लोगों को शरणार्थी शिविरों में जीवन बिताना पड़ता है। कुछ समय के बाद ये प्रवासित लोग नये वातावरण और प्रदेश से समझौता तो कर लेते हैं। फिर भी उनके दिलों में अपनी मिट्ठी की यादें ताज़ी रहती हैं। भारत के संदर्भ में देखे तो 15 अगस्त 1947 को भारत सैकड़ों साल की गुलामी की जंजीरें तोड़कर स्वतंत्र हुआ। लेकिन इस बड़े सुखद परिवर्तन के लिए विभाजन जैसी एक कीमत चुकानी पड़ी। पाकिस्तान और भारत में हुए सांप्रदायिक दंगों में हज़ारों घर उजड़े। दोनों देशों में लाखों आदमी मारे गये और करोड़ों आदमियों को अपना घर, अपना देश छोडकर भागना पड़ा और वे 'शरणार्थी' कहलाये गये। भारत-पाक विभाजन, एक प्रकार का कुकृत्य था लेकिन उसके बाद या उसके साथ जो हुआ वह शायद दुनिया का सबसे जघन्य कुकृत्य था और आज तक माना जाता है। आबाद-बदली के दौरान हुई आगजनी, कत्लेआम, ट्रेनों को रोक कर किए गए हत्याकांड, औरतों के अपहरण और बलात्कार की समूची विभीषिका का बयान सुनकर आज भी लोग काँप उठते हैं।

विस्थापन का सिलसिला निरंतर चल रहा है- बंगलादेश, बर्मा, श्रीलंका, अफ़गानिस्तान जैसे बहुत-से स्थानों में लोग विस्थापित हो रहे हैं और शरणार्थियों का जीवन जी रहे हैं। विस्थापन, एक देश से दूसरों में ही नहीं हो रहा, लोग अपने देश में भी विस्थापित हो रहे हैं। भारत के संदर्भ में, सन् 1984 तथा 2002 में हुए सिख तथा गुजरात

दंगों में अनेक लोग अपने मूलस्थान से विस्थापित हो गए।

जीवन एक यात्रा है और यात्रा अवरुद्ध होने पर आदमी बहुत टूट जाता है। यात्रा का अवरुद्ध होना और यात्री का वहीं रुक जाना पराजय का प्रतीक है। अवरुद्ध यात्रा, संघर्ष से आगे बढ़ाई जा सकती है, इसीमें व्यक्ति की जय छिपी होती हैं। विस्थापन को यदि यात्रा का अंत मान लिया जाये तो जीवन समाप्त हो जायेगा। इसी कारण, विस्थापित व्यक्ति अपनी यात्रा को ज़ारी रखने का प्रयास करता है और संघर्ष, श्रम, लगन से पुनः खुद को स्थापित करता है। पर उसके हृदय के किसी कोने में उसकी जेड़ं, उसकी मिट्ठी उसे पुकारती रहती है।

अपने पर्यावरण और इलाके से लोगों का बलपूर्वक पलायन विस्थापन के नवीन एवं प्रचलित रूप हैं। यह प्राकृतिक संकट, अनावृष्टि और विकास व आर्थिक कारणों से होनेवाले सामाजिक परिवर्तनों का वर्तमान प्रचलित रूप है। जब मानवराशि युद्ध, जातीय सफ़ाई, राजनीतिक भेद, नगरीय नवीनीकरण जैसे विषयों पर विचारपूर्वक कार्यवाही स्वीकृत करने के परिणामस्वरूप लोगों को अपने घर व बिरादरी छोड़कर निकलना पड़ता है, तब विस्थापन घटित होता है। जिस प्रदेश से संबन्ध रखते थे जहां रहकर अपने जीवन को अधिकतम क्षमतापूर्ण बनाने का ज्ञान प्राप्त करते थे, वहां से विस्थापित जनता दूसरी जगहों पर जाकर प्रायः निर्धन बन जाती हैं। विकास योजनाएँ,

पद्धतियां और प्रक्रियाओं से बहुत से लोग विस्थापित हो जाते हैं, इसी कारण से यह विकास कार्यक्रम 'सामाजिक हानिकारक तत्व' भी बन जाते हैं।

आंतरिक रूप से विस्थापित हुए लोगों की संख्या में आयी वृद्धि आज की एक प्रमुख चुनौती है। पलायन के लिए विवश हुए लोग भी शरणार्थियों के समान है लेकिन ये लोग किसी अंतर्राष्ट्रीय सीमा को पार नहीं करते और अपने ही राष्ट्र के भीतर ठहरते हैं। इसलिए ये लोग शरणार्थियों के लिए स्थापित किसी भी अंतर्राष्ट्रीय योजना की सुरक्षा के हकदार नहीं होते। अपनी सुरक्षा और सहायता के लिए एक भी अंतर्राष्ट्रीय सभा स्थापित न होने के कारण विस्थापित मूल से उजड़ जाने की पीड़ा को चुपचाप सहने के लिए अभिशप्त हैं।

विस्थापन की कारणीभूत - विकास योजनाएं।

प्राकृतिक संसाधनों और भूमि के उपयोग के प्रतिरूपों में अर्थपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत करनेवाली किन्हीं विकास योजनाएँ उन संस्साधनों के वर्तमान उपयोग करनेवाले लोगों पर कुछ विपरीत प्रभाव छोड़ देती हैं। बृहद् प्रकार की योजनाओं की लपेट में ऐसे भूभागों की प्राप्ति व संधान आ जाते हैं जो व्यक्ति और समूह द्वारा स्वकीय और उपयोगित हैं। ऐसी योजनाओं में प्रमुख हैं: 1. जल विद्युत शक्ति उत्पादन और सिंचाई के लिए बांधों का निर्माण। 2. राजमार्ग, रेलपथ और सिंचाई नहर जाली के निर्माण। 3. पारेषण पंक्तियों के निर्माण। 4. हवाई

अड्डों के निर्माण। 5. नगर और बंदरगाहों के निर्माण, पुनर्निवेशन और विस्तार कार्य। 6. परनाली क्रम, सबवे, भीतरी शहरीय सड़क जैसे नगरीय आधारिक संरचना के सुधार व निर्माण। 7. कोयला-ज्वलित उष्ण शक्ति उत्पादन यंत्र और अन्य प्रदूषित व्यावसायिक यंत्रों के संसाधन। 8. खदान प्रक्रिया का आरंभ। 9. संरक्षित देशीय प्रमोदवन, जीव भिन्नता और संरक्षण स्थान, चरागाह आदि के संस्थापन। 10. पुनः वनरोपन, व्यावसायिक वृक्ष खेत, जंगलों की सफ़ाई व फसल के कार्य एवं वन क्षेत्रों के बंद करने का कार्य।

इन विकास योजनाओं के कारण विस्थापित लोगों के जीवन और कल्याण की सुरक्षा के लिए, प्रभावित लोगों की हानि को घटाने और सुधारने के लिए ठोस कदम स्वीकारना ज़रूरी है।

विस्थापन के अनुपात।

पूरे विश्व में अनैच्छिक रूप से विस्थापित होनेवालों की संख्या 1840 लाख से भी ज़्यादा है। इसमें 160 लाख शरणार्थी और 260 लाख आंतरिक रूप से विस्थापित भी शामिल हैं। 120 लाख लोग नागरिकता की सुरक्षा के अभाव को झेल रहे हैं, 250 लाख लोग प्राकृतिक विपत्तियों के कारण विस्थापित हुए और 1050 लाख से भी अधिक लोग विकास योजनाओं के कारण स्थानान्तरित हुए।

नये पर्यटन सूत्रपातों के लिए बहुत से स्थानीय समुदायों को अपने परंपरागत भूभागों से निकाल दिये गए। टांसानिया के मासाई

लोग, पूर्व अफ्रिका के आदिम जाति और बर्मा के लोग इस तरह विस्थापित हुए।

विकास योजनाओं में प्रमुख स्थान महाकाय बाँध निर्माण को जाता है। इसके कारण ही भारी मात्रा में मानव दुनिया-भर से विस्थापित हो रहे हैं। मलेशिया के बतंग अली शक्ति योजना से 3600 लोग और मनिला बंदरगाह योजना से 8500 परिवार स्थानांतरित हुए। बंगलादेश के जमुना बहुपयोगी योजना से 65000 लोग और चीन के जिंगजियु रेलवे योजना से दो लाख दस हज़ार लोग भी विस्थापित हो गए।

आधिकारिक गणना निरूपण के अनुसार, बांध, विद्युत शक्ति उत्पादन योजनाएँ, खदान और कारखानों के कारण बहुत से लोग विस्थापित हो रहे हैं। भारत के सिंग्रोली में विकास योजनाओं के कारण विस्थापित होनेवालों की संख्या ढेढ़ लाख से ज्यादा पहुँच गए। सरकार ने ऐसी जगहों पर पुनर्निवेशन का प्रबंध किया है जहां न तो बिजली का प्रबंध है और न ही उपयुक्त नौकरी का अस्तित्व। बीस सालों से विकासोत्पन्न विस्थापन के शोध-कार्य में व्यस्त समाजशास्त्री, मैकेल सेरनिया के अनुसार, 'राजनीतिक विस्थापन की तुलना में विकासोत्पन्न विस्थापन अधिक गंभीर है।' भारत और चीन ऐसे विस्थापनों के लिए विस्तृत रूप से उत्तरदायी हैं। सन् 1950-2000 के बीच विकास योजनाओं के कारण विस्थापित हुए लोगों की संख्या 4.5 करोड़ हैं।

विपत्ति व कलह के कारण जो लोग पलायन करने के लिए विवश हुए उनको साधारण रूप से दयायुक्त ध्यान प्राप्त होता हैं और अंतर्राष्ट्रीय सहायता भी मिलती हैं। लेकिन, दुनियाभर में विकास योजनाओं के कारण विस्थापित होनेवालों के विषय में यह सब संभव नहीं। ये लोग स्वेच्छा से नहीं, मजबूरी में आकर अपनी ज़िंदगी और जीविका को छोड़कर चल पड़े। अपरिचित तथा प्रायः आतिथ्य-विमुख स्थानों में पुनःस्थित होने का अनिश्चय अवस्था का सामना करने के लिए भी ऐसे लोग विवश हो जाते हैं।

अपने स्वदेशों को परित्याग करने के लिए बाद्य हुए लोगों की समस्या वाकई भूमंडलीय चिंता का विषय है। नगरीय विकास व औद्योगिक समूहों के विकास से होनेवाले विस्थापन का स्वभाव और उसके परिणाम ऐसे मुद्दे हैं जिसे अब तक कम अवधान प्राप्त हुआ हैं। विकास योजनाएं पर्यावरण को अपकृष्ट करके लोगों के जीवन को पदावनित करती हैं। विस्थापन के कारण स्थानीय लोग अपनी जीविका के साथ सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रासंगिकता भी खो बैठते हैं।

विस्थापन के विविध रूपः भारतीय संदर्भ में।

अ. राजनीतिक कारणों से हुए विस्थापन।

जम्मु-कश्मीर, गुजरात और उत्तर - पूर्वी राज्यों में हुए संघर्षों के कारण कम से कम साढ़े छह लाख लोग आंतरिक विस्थापन के शिकार हुए। इन विस्थापितों में कश्मीरी पंडितों की संख्या अधिक

थी जिन्होंने सन् 1989 से हो रही पृथक् युद्धनीति के कारण घाटी छोड़ी। सन् 1947 में स्वतंत्र भारत और पाकिस्तान के निर्माण से ही कश्मीर की प्रास्थिति विवाद का विषय रहा है। आज भी यह विषय गंभीर तनाव का मामला है। राजनीतिक ताकतों और युद्धरत के बीच होनेवाले युद्ध, मौलिक आंदोलनकारियों द्वारा कश्मीरी पंडितों की हत्या, राजनीतिक अस्थिरता से सृजित अराजकता और मौलिक मानवाधिकारों के लगातार उल्लंघन के कारण विशेष रूप से कश्मीरी पंडितों ने जम्मू व दिल्ली की ओर पलायन किया। सन् 1996 में हुए चुनाव और लोकप्रिय सरकार की पूर्वावस्था प्राप्ति के बावजूद भी कश्मीर में चल रहे हत्याकांडों और खूनखराबों के कारण विस्थापित लोग अपने कश्मीर लौट आने के लिए तैयार नहीं।

फरवरी 2002 में गुजरात में संघर्ष फूट पड़ा। हिन्दू कर्मकर्ताओं से भरी एक रेलगाड़ी का आक्रमण करके मुसलमान जमाव द्वारा उस पर आग लगाने से यह हिंसाकांड टूट पड़ा। बदले में हुए आक्रमण में दो हज़ार से ज़्यादा लोग मारे गये और एक लाख लोग विस्थापित हुए। सरकार द्वारा स्थापित शरणार्थी शिविर अक्टूबर 2002 में बंद कर दिये गए और लोगों को विवश होकर अपने घर वापस जाना पड़े जहां वे निरंतर ड़री हुई परिस्थितियों में बिना किसी सुरक्षा से रह रहे हैं।

उत्तर - पूर्वी भारत के भौगोलिक रूप से अलगाया हुआ और

आर्थिक रूप से विकसनाधीन सात राज्य, भारत के दो सौ से लेकर चार सौ तीस तक की जनजातियों के गृह हैं। बाहर से विस्थापितों के प्रवाह ने भूमि को लेकर अनेक प्रकार के जातीय संघर्षों को जन्म दिया। स्वतंत्रता से लेकर उत्तर-पूर्व भारत, दो प्रमुख सशस्त्र संघर्षों के गवाह बन रहे हैं। वे हैं नागलान्ड के देशीय समाजवादी परिषद् द्वारा आयोजित 'नागा आन्दोलन' और असम के अखिल असम विद्यार्थी संघ द्वारा आयोजित 'असम आंदोलन'। इन संघर्षों ने विस्थापितों के सतत् प्रवाह को उत्पन्न किया है। सन् 1990 के शुरूआती वर्षों में शुरू हुए बोड़ों और संथालों के संघर्ष अभी भी चल रहे हैं जिससे विस्थापित हो रहे लोगों की संख्या तीन लाख से भी अधिक पहुँच गयी। भारत के विभिन्न भागों में हो रहे एकरूपता संबंधी प्रजातंत्र आंदोलनों और स्थानीय संघर्षों के कारण बहुत से लोग आंतरिक विस्थापन का शिकार हो रहे हैं।

राजनीतिक कारणों से विस्थापित हुए लोग शोचनीय अवस्था में जीने के लिए बाद्य हो जाते हैं क्योंकि ऐसे लोगों को किसी भी हालत में राजनीतिक स्वीकृति प्राप्त नहीं होती। पर्याप्त सुरक्षा उपायों के अभाव में इस तरह विस्थापित हो रहे लोग ड़रावने माहौल में ज़िंदगी काटने के लिए विवश हैं।

आ. पारिस्थितिक व विकास कार्यों से उत्पन्न विस्थापन

विश्व अधिकोष के अनुसार, भारत में विकास योजनाओं

से विस्थापित हुए लोगों की संख्या लगभग साढ़े तीन करोड़ हैं जो पूरे विश्व की तुलना में सबसे अधिक हैं। ऐसे विस्थापित लोग पर्याप्त संरक्षण राज्यक्रम से प्रायः दूर रहते हैं और इन्हें स्थायी रूप से दरिद्रता का सामना करना पड़ता है जिसके कारण वे पूर्ण रूप से सामाजिक व राजनीतिक तौर पर हाशियेकृत हो जाते हैं।

तीव्र आर्थिक विकास प्राप्त करने के लिए भारत ने औद्योगिक विकास योजनाएं, सड़कें, खदानें, विद्युत शक्ति उत्पादन केन्द्र और नये शहर आदि के निर्माण में भारी मात्रा में धन लगाये। ऐसी विकास योजनाओं के फल मिलने के लिए भूमि का बड़ी तादाद में अभिग्रहण ज़रूरी था जिसके कारण मानवराशि का विस्थापन संपन्न हो गया।

मार्गभ्रष्ट राज्य पद्धति के कारण विकास योजनाओं से प्रभावित मानव समूह को आकस्मिक बेदखली, कम मुआवजा, जीविका और संपत्ति की हानि, अभिघातज पुनर्वास, प्रभेद और दरिद्रता जैसे अस्वीकृत परिस्थितियों से गुज़रना पड़ा।

भारत में विकास से होने वाले विस्थापन में प्रमुख स्थान बांध-निर्माण से उत्पन्न विस्थापन को है। पिछले पचास वर्षों में लगभग 3300 बांध निर्मित हुए और हज़ार के करीब निर्माणाधीन हैं। दुनिया भर के बाँध निर्माताओं में तृतीय स्थान भारत को है। भारतीय विशेषज्ञों के अनुसार मात्र बांध-निर्माण से विस्थापित लोगों की संख्या दो से चार करोड़ के बीच हैं। समाज में विस्थापन संबन्धित संकटों के प्रमुख

कारण होने के कारण बांध तथा उससे संबंधित निर्माण हमेशा गंभीर प्रतिवाद का विषय रहा है।

भारतीय नियोजन आयोग द्वारा सन् 1972 में आयुक्त तेहरी बांध, गंगा नदी के ऊपरी तट पर निर्मित हुए जिसने सौ गांवों को जलमग्न क्षेत्र बनाकर नब्बे हज़ार के करीब परिवारों को विस्थापित किया। नर्मदा घाटी विकास योजना के अंतर्गत नर्मदा और 419 सहायक नदियों के पुनर्निमाण करने के लक्ष्य में बनाये 3200 बांध आते हैं। भारतीय उपभूखंड के किसी भी जलाशय से ज़यादा पानी थामनेवाले गुजरात के सरदार सरोवर और मध्यप्रदेश के नर्मदा सागर इसके बीच आते हैं। सन् 1990 में निर्मित बारगी बांध नर्मादा नदी का प्रथम बांध है जिसने 162 गांवों से एक लाख चौदह हज़ार लोगों को विस्थापित कर दिया। अपनी जो भूमि नष्ट हुई उस के लिए इन लोगों को कोई मुआवजा नहीं मिला और अपनी जीविका से भी वे बेदखल हो गये। सरदार सरोवर जलाशय के निर्माण ने दो लाख लोगों को विस्थापित किया। नर्मदा नदी तट में सौ वर्ष की अवधि में 3200 बाँधों के निर्माण से संबन्धित योजना मानवीय इतिहास की बड़ी निर्माण योजनाओं में से एक हैं। इसमें सबसे विवादास्पद योजना है सरदार सरोवर जिसने 237 गांवों से सतसठ हज़ार लोगों को विस्थापित कर दिया। इसके विरुद्ध ही 'नर्मदा बचाओ' आन्दोलन शुरू हुआ।

उड़ीसा की महानदी के बराबर बनाये सिराकुंड़ बांध, भारत

के स्वातंत्र्योत्तर प्रमुख बहु-प्रयोजन नदी घाटी योजना में प्रथम है। सन् 1957 में निर्मित इस योजना ने इक्कीस हज़ार परिवारों को विस्थापित कर दिया। बावन साल बाद भी लोग विस्थापन का दर्द झेल रहे हैं।

विकास योजनाएं प्रायः दूरवर्ती गांव, जंगल और पहाड़ों में स्थापित होने के कारण ऐसे स्थानों के संरक्षण का पारंपरिक कार्यकर्ता बने स्वदेशीय लोग ही विस्थापित होते हैं। भारी दरिद्रता से गुज़र रहे गरीब और दुर्बल लोगों को ये विस्थापन धमकाते हैं। अभावों के जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होनेवाले ये जनसमूह सामाजिक तथा राजनीतिक रूप से हाशियेकृत हो जाते हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, भारत ने बाँध, सड़क, खदान, खनिकर्म मंडलियां, विद्युत स्थिरयंत्र जैसी योजनाओं की नवीनीकरण और विकास के लिए विशाल पूँजी लगायी। इस प्रक्रिया के अवश्यंभावी परिणाम थे- भारी भूमिअभिग्रहण और विस्थापन। पं. जवाहरलाल नेहरू ने बांधों को 'भारत के धर्मनिरपेक्ष मंदिर' नाम दिये और कहा कि देश और उसके विकास के लिए जनता को अपनी कुछ सुविधाएँ त्यागनी पडेंगी।

विस्थापित लोगों के कल्याण को एहतियात रखने के लिए भारत में कोई भी देशीय न्याय-नीति और पद्धति नहीं है। सन् 1894 के भू-अभिग्रहण विधान ही एकमात्र आधिकारिक कानूनी संकेत है।

विस्थापितों में जनजाति समूह

मानवाधिकार रक्षा संस्थान के अनुसार, विस्थापन के कारण हानि सहने वालों में जनजातियाँ भारी मात्रा में शामिल हैं। भारत की जनसंख्या में केवल आठ प्रतिशत बने ये लोग विस्थापितों में साठ प्रतिशत हैं। इसलिए जनजातीय विस्थापितों की अवस्था विशेष चिंता का विषय है।

नर्मदा घाटी के तीस बांधों में एक है मान योजना। इसने धार जिले के सत्रह गाँवों को जलमग्न क्षेत्र में शामिल करके छह हज़ार जनजाति समूह को विस्थापित कर दिया। प्रभावित जनजाती को अनुपजाऊ ज़मीन के पास पुनर्निवासित करके सरकार नागरिकों के हितों का संरक्षण करने के अपने कर्तव्य से पीछे हट लिया। विकास और विकास योजनाओं के प्रयास में हमेशा अपने मूल से उखाड़कर विस्थापित होनेवाले जनजाति समूह है।

विस्थापितों के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में सबसे प्रमुख स्थान पुनः निर्वेशन को है। लेकिन इसके लिए प्रयुक्त 1894 के 'भूअभिग्रहण विधान' एक मार्गदर्शक सिद्धांत नहीं है। अगर इस विधान पर हुए प्रस्तावित संसाधन का पालन पूर्ण रूप में करेंगे तो विस्थापन के क्षेत्र में नये तरंग उत्पन्न होंगे। ऐसा हुआ तो निजी तात्पर्यों के लिए ज़मीन का अभिग्रहण और भी सुगम और सहज बन जाऐंगे।

बाढ़, बवंडर और भूढलाव जैसे प्राकृतिक प्रकोपों से भारी

व आवर्तक विस्थापन हुए। बाँधों को प्रायः बाढ़-नियंत्रण के लिए प्रभावी उपाय के रूप में निरुपित किया जाता है लेकिन आज के संदर्भ में बाँधों को बाढ़ के प्रमुख कारण प्रमाणित करते हैं क्योंकि तटबंधों के निर्माण से प्राकृतिक जलनिकास व्यवस्था तितर-बितर हो जाती है।

यह एक उद्वेगकारी बात है कि निर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार, भारतीय स्वतंत्रता के बाद विद्युत् शक्ति उत्पादन यंत्र, सिंचाई योजनाएँ, खनिकर्म मंडलियां, इस्पात उद्योग जैसी बहुत सी विकास योजनाओं से लगभग तीन करोड़ लोग विस्थापित हो गये। इसमें 40 प्रतिशत जनजाति समूह और 20 प्रतिशत दलित वर्ग भी शामिल हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि साठ प्रतिशत विस्थापित जनसमूह हाशियेकृत समुदाय से है। इन लोगों ने अपना सबकुछ विकास के वास्ते समर्पित तो किया लेकिन वे अब भी विकास से अस्पृश्य हैं।

विशेषाधिकारों से वंचित समूहों की सुरक्षा के लिए अनेक नियम बनाया गया लेकिन ईमानदारी से अधिनियमित नहीं हुए। छोटा 'नागपूर भूअधिकार अधिनियम' व 'संथाल परगाना भूअधिकार अधिनियम' जनजाति के अधीन रहे ज़मीनों की बिक्री व संक्रमण अजनजाती लोगों के लिए निषेध बनाते हैं। लेकिन इस हस्तांतरण की जगह पर जनजाति समूह के हाथों से विकास के नाम पर लोग ज़मीन झपट लेते हैं और इन अधिनियमों के रहते हुए भी आदिवासी वर्ग विस्थापित हो जाते हैं।

भारत में विस्थापितों की सहायता के लिए देशीय योजना और न्याय संस्था संबन्धी ढाँचा अनुपलब्ध है। विस्थापितों के हितों को एहतियात रखने के लिए एक भी अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण नहीं। साफ़-सुथरा नीति और देशीय कानूनी साधनों और संस्थाओं की अनुपस्थिति में विस्थापन के पूर्व और बाद की परिस्थितियों से शान्तिपूर्वक गुज़रना बहुत दुष्कर है। जब तक यह काम कठिन है इस समस्या का तत्काल समाधान एक सुदूर स्वप्न मात्र है।

वर्तमान विश्व परिप्रेक्ष्य में विकास योजनाओं के कारण होने वाले विस्थापन सचमुच एक गंभीर विचारणीय विषय है। प्रायः शरणार्थियों व आपातकालीन शिविरों में रहने वालों के प्रतिरूप ही सार्वभौमिक जनता के चंदे और कल्पना अपनी ओर खींचते हैं। हाल के सालों में पूरे विश्व में उपस्थित शरणार्थियों की आंकलित संख्या विस्थापितों से कम हैं। आकलन के अनुसार, 1990 से 2000 तक के समय विश्वभर उपस्थित शरणार्थियों की संख्या 1 करोड़ और 1.7 करोड़ के बीच हैं और 1980 से 1990 तक आंतरिक रूप में विस्थापित हुए लोग 1 करोड़ और 1.8 करोड़ के बीच हैं। लेकिन यह बात बहुत ही चौंकाने वाली है कि विकास कार्यों से विस्थापित हुए लोगों की संख्या 1988 - 1998 के बीच दस करोड़ थी। फिर भी, इस तरह विस्थापित हुए लोग सार्वभौमिक जनता की सहायता और सहानुभूति से दूर हैं।

आज विकास के इस दौर में सब चाहे वह देशीय सरकार

हो या राज्य सरकार, विकास योजनाओं को प्रोत्साहित करते हैं। बहुराष्ट्रीय उद्योगपतियों को प्रभावित करने के लिए 'विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र' (स्पेशल इकनोमिक् ज़ोन) जैसे प्रोत्साहित तत्वों को प्रस्तुत करते हैं। फलस्वरूप, बहुत से अंतर्राष्ट्रीय समवाय भारत में मूलधन लगाने के लिए तैयार हो गये। तब ऐसे उद्योगों की सुगम गति के लिए ज़मीन का अभिग्रहण भी ज़रूरी बन गया। आज भी इस तरह के अभिग्रहणों का सिलसिला भारत-भर चल रहा है और विस्थापितों की संख्या दिन-ब-दिन बड़ी तादाद में बढ़ रही है।

भारत के औद्योगिक क्षेत्र में चल रहे विकास कार्यक्रमों के विरुद्ध चलने वाले आंदोलन के अभिन्न रूप हैंः- बिरला संघ के बाक्साइट तथा अलूम्नी संयन्त्र के विरोध में काशीपुर आंदोलन, टाटा के इस्पात संयंत्रों के लिए किये बलपूर्वक विस्थापन के खिलाफ़ हो रहे कलिंगनगर विद्रोह, बंगाल में टाटा के मोटर गाड़ी निर्माण इकाई के विरुद्ध हुए सिंगूर क्रान्ति और इंटोनेशिया के सलीम ग्रूप द्वारा बंगाल में हुए ज़मीन अभिग्रहण के विरोध में घटित नंदीग्राम आन्दोलन, पश्चिम बंगाल के हरिपूर में निर्मित परमाणु विद्युत संयंत्रों के विरोध में हो रहे विद्रोह, मुकेश अंबानी द्वारा संचालित रिलयन्स् उद्योग के विरुद्ध महाराष्ट्र के रायगढ़ और हरियाणा के मानेसर में हो रहे विरोध, अनिल अंबानी के रिलयन्स् उद्योग के खिलाफ़ उत्तर प्रदेश के दाद्री में हो रहे विद्रोह, टाटा के विरुद्ध छत्तीसगढ़ के जगदलपुर में हो रहे आंदोलन आदि।

इस बहुस्थानीय संघर्ष स्थलों से विस्थापित हुए लोगों की करुण-गाथाएँ और आंदोलनकारियों पर होने वाले आक्रमणों की रक्तरंजित खबरें समाचार पत्रों में शीर्षक बन रही हैं। लेकिन समस्याओं का समाधान अभी भी कोसों दूर है।

विस्थापन से जुड़ी हर समस्या का समाधान केवल इस बात से ही संभव होगा कि भारत सरकार को जल्द ही न्याय संस्था ढाँचा का निर्माण करना पड़ेगा और विस्थापितों के लिए युक्त पुनर्निवेशन योजनाएं भी निर्मित करना ज़रूरी है। तभी विकासोत्पन्न विस्थापन की समस्या का समाधान संभव होगा।

भारतीय विस्थापन के परिप्रेक्ष्य में प्रवासी विस्थापन, भारत विभाजन से उत्पन्न विस्थापन और विकासोत्पन्न विस्थापन महत्वपूर्ण हैं। इस तरह विस्थापित हुए लोगों के बारे में विचार करने के लिए इन विस्थापनों के इतिहास एवं विस्थापितों की समस्याओं पर पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना ज़रूरी है तभी विभाजन संबन्धी अध्ययन पूर्णतः प्रमाणित होगा।

भारतीयों के अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन : इतिहास और वर्तमान समस्याएं।

जो व्यक्ति विदेश में रहता है वह प्रवासी है। वह शब्द सन् 2000 से प्रचलन में आना शुरू हुआ है, और आज भारी मात्रा में इस्तेमाल हो रहा है। दरअसल, 'प्रवासी' परदेसी का ही विकसित रूप है। "प्रवासी वे कलमें हैं जो अपने पेड़ से कटी हुई टहनियां होने के

बावजूद बरसों-बरस किसी और मिट्ठी-खाद-पानी में अपनी जड़ें रोपती हुई अपना बहुत कुछ खाने और नया बहुत कुछ उस नई भूमि से लेने-पाने के साथ अपने अंदर की गहराईयों में नयी ऊर्जा सृजित करती हुई नई चेतना की कोपलें विकसित करती है।"[1]

प्रवासी भारतीयों का इतिहास।

भारतीय संस्कृति का महा-वटवृक्ष भारत भूमि में है लेकिन उसकी जड़ें विश्भू-धरा में है। 'वसुधैव कुटुंबकम' दर्शन का जीवन्त स्वरूप यदि देखना है तो प्रवासी भारतवंशियों के जीवनेतिहास में देखा जा सकता है। जहां भी प्रवासी भारतवंशी हैं, वे भारतीय संस्कृति के वट-वृक्ष हैं, विदेश की भूमि में वह भारतीयता के लिए ही फलता-फूलता है। स्वदेश की सरहदों के पार जाकर ही प्रवास की पीड़ा और स्वदेश का अक्षय-सुख जाना जा सकता है। इसलिए कहा जाता है 'भारत की याद में आँसू नहीं, आँखें बहती हैं।'

भारत का विदेशों से संबंध का इतिहास बहुत पुराना है। हज़ारों वर्षों से धर्मप्रचार तथा व्यापार के लिए भारतीय विभिन्न देशों में जाते रहे हैं। परन्तु भारत में अंग्रेज़ों के शासन की स्थापना से इस दृश्य में परिवर्तन हुआ। अंग्रेज़, डच, फ्रेंच आदि शासक हज़ारों भारतीय मज़दूरों को छल-कपट से गिरमिटिया मज़दूर बनाकर अपने-अपने

---

1. वर्तमान साहित्य (जनवरी - मार्च 2006) - प्रवासी हिन्दी लेखन तथा भारतीय हिन्दी लेखन (लेख) - उषाराजे सक्सेना।

उपनिवेशी देशों में ले गये। भारतीय मज़दूर मॉरीशस, फिजी, सूरिनाम, गयाना, ट्रिनिडाड आदि देशों में पहुँच गये। ये भारतीय 'इंडियन इंडेंचर लेबर सिस्टम्' अर्थात् शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत गये। उन्नीसवीं शताब्दी से भारत के शिक्षित युवकों का इंग्लैंड आदि देशों में जाना शुरु हुआ जिनका मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करना तथा लौटकर अंग्रेज़ी सरकार में उच्च पदों में आसीन होना था। भारत की स्वतंत्रता के बाद, ये लोग इसी प्रकार इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में जाता रहा परन्तु अब शिक्षा के साथ वहां नौकरी पाकर वहीं का नागरिक बनकर सुखमय जीवन व्यतीत करने का भी लक्ष्य था।

आज़ादी-पूर्व के दो सौ साल में भारतीय समाज में कई तरह के जो बदलाव हुए उसके प्रेरक-तत्व के रूप में पश्चिम की बड़ी भूमिका रही है। उपनिवेशवाद के दौरान जो बदलाव हुए उसके मूल में औपनिवेशिक एजेंडा था। पर दिलचस्प पहलू यह है कि अज़ादी के बाद जो बदलाव हुए उसमें भी प्रेरणादायक शक्ति के रूप में पश्चिम की बड़ी भूमिका रही। फ़र्क यही था कि भारतीयों के लिए पश्चिम का विस्तार हो गया। पश्चिम, ब्रिटन न बनकर अन्य देश भी बन गये।

विश्व में लगभग 136 देशों में भारतवंशी निवास करते हैं और इनकी संख्या का अनुमान लगभग दो करोड़ हैं। लगभग हर तरह के लोग भारत से गए हैं जिनमें कुशल और अकुशल श्रमिक, कारीगर, औद्योगिक क्षेत्र में काम करनेवाले, डॉक्टर, इंजीनियर, कंप्यूटर विशेषज्ञ

आदि शामिल हैं। भारतीय जहां भी गये, जिस किसी रूप में गये उन्हें अपनी प्रगति के लिए संघर्ष करना पड़ा और उन्होंने अपने संघर्ष से अपनी मंज़िल प्राप्त की, उन्नति के उच्चतम शिखरों को छुआ। इस भारी प्रक्रिया में भी प्रवासी भारतीयों ने अपनी सभ्यता-संस्कृति के महान् मूल्यों को विस्मृत नहीं किया। उन्होंने अपने अपनाये देश और भारत के मध्य एक सेतु का भी काम किया। भारत की विदेश नीति को दिशा देने में प्रवासी भारतीयों की बहुत अहम भूमिका है।

गिरमिटिया मज़दूरों का इतिहास

इतिहास के पन्ने इस बात के गवाह हैं कि जब कभी विभिन्न सांस्कृतिक स्तर के लोग एक स्थान पर एकत्रित हुए तब जो सबसे बड़ी समस्या सामने आयी वह यह थी कि सुसंस्कृत और पिछड़ी संस्कृति के लोग समाज में एक साथ किस तरह जीवन-यापन करें। देखा यह गया कि प्राचीन समय में कई देशों में संपन्न संस्कृति ने अविकसित संस्कृति के लोगों का उन्मूलन करके इस समस्या का, समाधान पाया। क्रीत दास प्रथा तथा और कुछ अंशों में गिरमिट प्रथा- इसी प्रक्रिया की द्योतक रहीं।

भारत में ब्रिटिश राज के दौरान दास-प्रथा की समाप्ति के बाद जब अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में श्रमिकों का अकाल पड़ गया तो भारत स्थित ब्रिटिश सरकार ने शर्तबंदी श्रमिक प्रथा आरंभ की तथा भारतीय श्रमिकों को सर्वप्रथम मॉरीशस द्वीप पर भेजा। कालांतर में इस

प्रथा का विस्तार अन्य देशों में भी हो गया।

आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हज़ारों भारतीय श्रमिकों को विदेश भेजा गया तो अंग्रेज़ सरकार ने उन्हें झूठा आश्वासन दिया था कि वहां पर पत्थर हटाओगे तो सोना निकलेगा-यह सिर्फ दो-तीन दिनों की यात्रा है। सबसे पहले भारतीय मज़दूरों को मॉरीशस ले जाए गए। समुद्री यात्रा में कुछ लोग बीमार पड़ जाते थे, कुछ लोग मर जाते थे। उनके शवों को समुद्र में डाल देते थे। बहुत ही कष्ट उठाकर भारतीय मज़दूर वहां गये, उन लोगों के साथ जानवरों की तरह व्यवहार किया गया, उन्हें गुलाम की तरह रखा गया। मॉरीशस से शुरू होकर दक्षिण अफ्रिका, फिजी, सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिडाड और टुबैगो आदि देशों में भी भारतीय मज़दूर पहुँचे।

दास-प्रथा की समाप्ति पर गन्ने और रूई की उपज के लिए मज़दूरों की समस्या आ उपस्थित हुई। मालिकों ने मुक्त दासों से पुनः काम लेने का प्रयास किया। कभी दंड और कभी प्रलोभन का सहारा लिया पर सफलता नहीं मिली। अंत में बाहर से मज़दूरों को लाने का निश्चय किया और भारत से क्रमशः वर्ष 1834, 1838, 1873 और 1879 में प्रतिज्ञाबद्ध मज़दूर लाये गये। आगे चलकर उनको एक और सार्थक नाम मिला - 'गिरमिटिया' जिसकी व्युत्पत्ति अंग्रेज़ी के 'एग्रीमेंट' नाम से मानी जाती है। पांच वर्ष के एग्रीमेंट में बंधकर वे विदेशों में गये। जो शक्तियाँ और जो स्वार्थी लोग गुलामी को कायम

रखने में रुचि रखते थे वहीं बाद में 'गिरमिटिया कूली प्रथा' को प्रारंभ करने में प्रेरक हुई। इन शक्तियों ने बड़ी चतुराई के साथ विशेषतया उत्तरभारत में दलालों का एक शक्तिशाली वर्ग तैयार कर दिया जो आगे चलकर आरकाठी के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे दिन-रात, सोते-जागते यही सोचते रहते थे कि किस प्रकार एक मज़दूर को फँसाकर डिपो में ले जाएँ। आरकाठियों ने जिन दो शक्तिशाली हथकंठों का उपयोग किया उनमें एक तो जिन देशों में उन्हें जाना होता उसे स्वर्ग से भी बढ़ा-चढ़ाकर बताना और दूसरा उन्हें यह न पता होने देना कि वह देश, भारत से कितना दूर है। जहाज़ में समुद्री बीमारी से ग्रस्त कई दिनों के पश्चात् जब उनकी चेतना जगी तो वे जान पाए कि उनके साथ धोखा हुआ है। डिपो में, जहाज़ पर चढ़ने के पूर्व कई लोगों ने अंग्रेज़ी अधिकारियों के पास गिड़गिड़ाकर मुक्ति के लिए प्रार्थना की तो उत्तर मिला कि अब उन निरीह लोगों के सामने केवल दो रास्ते रह गयें हैं, पांच वर्ष की नौकरी या पांच वर्ष की कैद।

प्रवासी भारतीयों की हृदयविदारक गाथाएँ भारत पहुँचने लगीं। भारतीय नेताओं के मन, जिनमें मदन मोहन मालवीय और गोपाल कृष्ण गोखले प्रमुख थे, दुख से कातर हो उठे। गिरमिटिया प्रथा के विरोध में व्यापक आंदोलन के फलस्वरूप कई जाँच कमेटियां स्थिति का सही पता लगाने के लिए बर्तानी सरकार द्वारा विभिन्न देशों में भेजी गयी। पर गिरमिट प्रथा का अंत कराने में सी. एफ. एण्ड्रूस का कार्य

अत्यन्त सराहनीय माना जाता है। उन्होंने 1914 में शर्तबद्ध मज़दूरों के प्रति हो रहे अत्याचारों से संबंधित बहुत सारी सामग्री इकट्ठी की और इसके आधार पर सन् 1920 तक प्रायः सभी स्थानों पर शर्तबंध मज़दूरों को भेजा जाना बंद हो गया। एक-तिहाई लोग वापस आये और बचे हुए लोग शर्त के अनुसार प्राप्त ज़मीन पर खेतीबारी, पशुपालन के कार्यों में जुट गये।

गिरमिट प्रथा की समाप्ति पर भारतीयों के जीवन में एक नया मोड़ आया। अब वे शर्तबंध कूली न रहकर स्वतंत्र प्रवासी भारतीय हो गये। आज यह लोग इन देशों के प्रशासनिक कार्यों तक अपना योगदान दे रहा है।

मॉरीशस की गिरमिटिया

'गिरमिटिया मज़दूर प्रथा' एक ऐसी अमानवीय व्यवस्था थी जिसमें एक भारतीय श्रमिक जिसे गिरमिटिया या कूली नाम से भी पुकारा जाता था, पाँच वर्ष के लिए कड़ा परिश्रम करने के लिए विवश था। यह एक दूसरी तरह की गुलामी थी जो गुलामी प्रथा की समाप्ति के साथ ही शुरू हो गयी थी तथा उतनी ही अमानवीय भी थी। लेकिन अशिक्षा, राजनीतिक सूझबूझ की कमी तथा संगठन के अभाव के कारण वर्षों तक ये श्रमिक इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था की चक्की के बीच पिसते रहे। उनकी दारुण वेदना को समझनेवाला और उसे दुनिया के सामने रखनेवाला कोई नहीं था।

मॉरीशस वह खूबसूरत द्वीप है जहां हिन्द महासागर का अथाह नीलापन है, सागर-तट से टकराकर लौटती हुई लहरें हैं, लांग माउंटेन की स्वरणीय पर्वतमालाएं हैं, शमारेल की सतरंगी धरती है और पाम्टलेमूस का उद्यान। गांधीजी का अनुयायी मणिलाल इस खूबसूरत द्वीप को 'लघुभारत' और धर्मवीर भारती ने 'इन्द्रधनुष की काँपती प्रत्यंचा' कहा। मॉरीशस पहला देश है जहां शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत सन् 1834 में भारतीय श्रमिकों को गन्ने के खेतों में काम करने के लिए भेजा गया। उनके आने से जहां एक ओर दास-प्रथा की समाप्ति के कारण संकट में पड़े चीनी उद्योग को नवजीवन प्राप्त हुआ तो वहीं धोखे से भेजे गये गरीब, अनपढ़, भोले-भाले भारतीय श्रमिकों के जीवन में एक ऐसे कालयुग की शुरुआत हुई जिसका अंत होने में पूरी एक शताब्दी लग गई।

मॉरीशस द्वीप को सर्वप्रथम सन् 1510 में यूरोपीय लोगों ने खोजा था। डच निवासियों ने 1598 में अपने राजकुमार मोरिस नसाऊ के नाम पर इस द्वीप का नामकरण मॉरीशस किया, 1670 में फ्रेंचवासियों ने इसका नाम ईसु दि फ्रांस रखा। 1814 में अंग्रेज़ों ने इस द्वीप पर कब्ज़ा किया। 1833 से अंग्रेज़ों ने इस द्वीप पर अपना अधिकार जमाया। 1968 को मॉरीशस स्वतंत्र हुए और आज यह देश वस्त्र तथा चीनी उत्पादन में आगे है। सन् 1810 से 1968 तक के दौर में भारतीय मज़दूर यहां पहुँचे। गन्ना उद्योग, मॉरीशस की अर्थव्यवस्था की

रीढ़ है और इस रीढ़ को मज़बूत बनाये रखे हैं- भारतवंशियों ने। उनके खून-पसीने और आँसुओं के कारण ही आज का मॉरीशस अपने रूप को पा सका है। भारतीय मज़दूर रोज़ी रोटी की चिन्ता में वहां गये और कटु यातनाएँ, दुर्घर्ष संघर्ष, अमानवीय कष्ट सहते हुए वहां की बंजर भूमि को उर्वर बनाया।

1834 से मॉरीशस में भारतीय प्रवासी, शर्तबंध मज़दूर के रूप में आने लगे। ये लोग अधिकांशत : भारत के बिहार प्रदेश के छपरा, आरा और उत्तरप्रदेश के गाज़ीपुर, बलिया गोंडा आदि जिलों के थे। फ्रेंच ज़मींदार ने उनके साथ अमानवीय व्यवहार किये और भारतीयों ने यह अत्याचार सहते हुए भी बड़े परिश्रम से मॉरीशस के निर्जन वनप्रांत को हरा-भरा और सुंदर बनाया। भारतीय मज़दूरों ने मॉरीशस की आर्थिक उन्नति में अपना बहुमूल्य योगदान दिया।

साउथ अफ्रिका से भारत आते वक्त महात्मा गाँधी मॉरीशस में रुके तो यहां के प्रवासी भारतीयों के जीवन में नवचेतना का एक नया अध्याय शुरू हो गया। उन्होंने भारतीय श्रमिकों से संगठित होकर अपनी राजनीतिक शक्ति को बढ़ाने तथा उनकी संतानों को शिक्षित बनाने का संदेश दिया। ये वे दो मूलमंग्र थे जिन्होंने मॉरीशस के भारतीय समुदाय को नयी दिशा दी तथा आगामी संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। 1907 में डॉ. मणिलाल मॉरीशस आये और उन्होंने शर्तबंध प्रथा का डटकर विरोध किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय

श्रमिक दासता से मुक्त हुए। वे किसी एक ही गोरे के दास न रहकर अब अपनी इच्छा के अनुकूल जहां भी चाहे काम कर सकते थे। भारतीयों की आर्थिक दशा सुधरने लगी।

मॉरीशस को समृद्ध बनाने में भारत से एग्रीमेंट के तहत गये भारतीय लोगों का बहुत बड़ा हाथ है। अधिकांश लोग धोखे में गये, अनेक लोग अपनी मातृभूमि को विवशता में हमेशा के लिए छोड़कर गये। कालापानी में ले गये लोगों की तरह कैदी न होने के बावजूद भी उनकी जिंदगी कैदियों से बदतर रही। हाड़तोड़ परिश्रम के बावजूद भी उन्हें दो वक्त की रोटी भी ठीक से नसीब नहीं होती थी। ऐसी अमानवीय त्रासदियों को सहते हुए जिन पूर्वजों ने इस द्वीप को उर्वर बनाया, उनकी संतानें आज इस देश के प्रशासनिक क्षेत्रों तक अपना योगदान दे रही हैं।

अन्य देशों के गिरमिटिया मज़दूर

15 वीं सदी में यूरोपीय ताकत अन्य देशों पर अपना अधिकार जमाने में सफल हुई। खेती का काम करवाने के लिए इन लोगों ने स्वदेशीय लोगों को गुलाम बनवाया और उनसे जंगल उजड़वाकर खेती करने लगे। गोरों के अत्याचारों से बहुत से लोग मारे गये और जो बचे थे वे प्राणरक्षा के लिए घने जंगलों में छिप गये। 1706 से अफ्रिका से गुलामों को शिकारियों की तरह पकड़कर जहाज़ों में भेड़-बकरियों की तरह ठूँसकर ले आये और अन्याय व अत्याचार की पराकाष्ठा पर हुए

आचरण का भी बाद में अंत हुआ। दासत्व प्रथा उठ जाने के बाद खेतों में काम करने के लिए सस्ते मज़दूरों का मिलना कठिन हो गया था। ऐसी स्थिति में गोरों की निगाह हिन्दुस्तान पर पड़ी। भूखे जानवरों की तरह गोरे लोग नंगे, भूखे, बेसहारा हिन्दुस्तानियों पर टूट पड़े।

सूरीनाम, फीजी, गुयाना, त्रिनिडाड, टुबैगो और साउथ अफ्रिका जैसे देशों में भारतीय मज़दूर पहुँचे। लोगों को बाड़ों में सुअरों की तरह भर दिया गया और यहां से भारतीय मज़दूरों के जीवन का काला अध्याय शुरू हुआ। जिन जंगलों को काटने-छाँटने में विश्वभर के गुलाम मज़दूर हार मान चुके थे उस जंगल को भारतवंशियों ने साफ़ कर दिया। लेकिन गोरों की नीली आँखों के भीतर की शोषकी ज्वाला को झेलना भारतीयों के लिए आसान न था। फिर भी भारतवंशी कष्ट और मौत से नहीं ड़रे, साहस के साथ सागर का सीना चीरते हुए अंजान देशों की कुँवारी धरती पर आये और शीघ्र ही असाद्य परिश्रम करके इन देशों पर वसंत उगाये। अपने पसीने की वर्षा से, अपनी हथेलियों के फ़ावड़े से इन जंगली देशों को स्वर्गवसुंधरा बनाया।

प्रवासी भारतीयों की समस्याएं।

लोग सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा भौगोलिक कारणों से स्थान-परिवर्तन करते हैं और नए समाज तथा समुदाय में दोहरी ज़िंदगी और संस्कृति में जीने के लिए विवश हो जाते हैं। इस दोहरी परिवेश में जीने के कारण उनके व्यक्तित्व में परिवर्तन

आने लगता है तथा वे बेचैनी, तनाव, अलगाव, अस्थायीपन, व्यग्रता, अशांति, शारीरिक क्लेश, संकट आदि का अनुभव करने लगते हैं। परिणामतः उनके सामने ऐसी स्थितियां पैदा हो जाती है जब वे अपनी पुरानी संस्कृति छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं लेकिन नयी संस्कृति को इतनी जल्दी अपना नहीं पाते हैं। संक्रमण के इस दौर में वे अपने आपको दोनों समूहों में हाशिये पर खड़ा महसूस करते हैं।

एक देश से दूसरे देश जाकर बसनेवालों के सम्मुख अपनी सांस्कृतिक, दार्शनिक, सामाजिक और यहां तक कि नैतिक मूल्यों को लेकर बहुत दुविधाएं आती हैं। अमेरिका तथा कनाडा जैसे व्यावसायिक राष्ट्रों में गये प्रवासी भारतीयों के लिए इन देशों के मूल्यों के साथ समझौता करना सरल कार्य नहीं था। इस प्रक्रिया में उन्हें सदा एक प्रकार की मानसिक व्यथा एवं पश्चाताप का भाव पीड़ित करता रहता है।

भारतीय लोग स्वेच्छा से विदेश गये हैं लेकिन वे वहां की भाषा, संस्कृति तथा समाज के बीच रहकर न तो वे अमेरिकन या ब्रिटिश बन पाते हैं और न पूरी तौर पर भारतीय ही रह पाते है। इस विरोधाभासों तथा विसंगतिपूर्ण जीवन के बारे में कई दशकों तक ब्रिटेन में रहनेवाली लेखिका उषाराजे सक्सेना ने ठीक ही लिखा है कि "कभी व्यक्ति खुद को थाली का बैंगन समझता है तो कभी धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का।"[1] नये परिवेश में अमित सुखों के बीच रहते हुए

भी प्रत्येक प्रवासी भारतीय पलट-पलटकर पीछे की ओर देखता है, जहां से वह आया है।

जब व्यक्ति नये स्थान पर जाता है और परिवर्तन की विशेष कालावधि में नैतिक - द्वन्द्व और संघर्ष की स्थिति से गुज़रने लगता है तब व्यक्ति अपनी पुरानी आदतें छोड़ने के लिए तैयार तो हो जाता है लेकिन अपरिचित, प्रभावशाली समूह के आतंकभरे माहौल के कारण वह नयी आदतें उतनी जल्दी सीख नहीं पाता है। फलस्वरूप, व्यक्ति बेचैनी, तनाव तथा मानसिक द्वन्द्व जैसी अनेक अवस्थाओं से गुज़रता है।

जब व्यक्ति अपने घर की संस्कृति और परिवेश को छोड़कर नये स्थान पर अपने आप को व्यवस्थित करने की कोशिश करता है तो अजनबीपन पैदा होता है। हाशिये पर रहने के दौरान व्यक्ति का चरित्र बदल जाता है तथा वह विभिन्न प्रकार के अनुभव से गुज़रने लगता है। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि "वह एक ही साथ दो विश्व में रहता है जिसमें कम-या-अधिक वह अजनबी बना रहता है।"[2] परिणाम यह होता है कि वह दोहरी चेतना का शिकार हो जाता है। इस अस्तित्व-संघर्ष के कारण ही वह बेचैन हो उठता है। फलतः उसके

---

1. साहित्य अमृत (सितंबर 2005, पृ. सं: 51-52) - प्रवासी हिन्दी साहित्य की उपेक्षाएं (लेख) - उषाराजे सक्सेना।
2. रोबर्ट. ई. पार्क - 'ह्यूमन मॉइग्रेशन ऑफ दि मार्जिनल मान' पृ.सं: 899

जीवन में एक प्रकार की शून्यता आ जाती है तथा वह अपने आप को रुग्ण, क्लांत और विवश महसूस करने लगता है।

प्रवासियों की समस्याएं - वर्तमान परिप्रेक्ष्य में।

प्रवासी का मन अंतर्द्वन्द्व से गुज़रता है। उसकी आँखों के सामने समय की सच्चाई होती है और स्मृतियों में जीवन के भूले-बिसेरे चेहरे जो उसे बेचैन करते हैं। स्मृतियों में संस्कार होता है और समय के हाथों में सरोकार। प्रवासी भारतीय इन दोनों के बीच मेल बिठाते-बिठाते हृदय और मस्तिष्क के बीच बंटकर रह जाता है।

नए देशों में अलग वातावरण और संस्कृतियों के लोगों के साथ रहना स्वयं में कम बड़ी अग्नि-परीक्षा नहीं है। इस अंतर्द्वन्द्व का सबसे बड़ा कारण है विभिन्न संस्कृतियों के टकराव से उपजा 'सांस्कृतिक आघात' जो प्रवासियों के व्यक्तित्व का अंश बन जाता है। 'सुदूर विदेश की धरती पर कोई अपने की तलाश में' मुग्ध प्रवासी सांस्कृतिक भिन्नताओं से उपजी बहुत-सी विसंगतियों से होकर गुज़र रहा है। बहुत से स्तर पर 'कल्चरल शोक' भी सह रहे हैं। इन सबके कारण प्रवासी भारतीय निरंतर द्वन्द्वात्मक स्थिति में जी रहे हैं। विदेश में अंजान परिवेश में रहकर उन्हें परायापन खलता है, यह खलिश क्रमशः घुटन, पीड़ा, भय, अकेलापन और परायापन का आधार बनती है। भारतीय परिवारों में हो रहे सांस्कृतिक अंतर प्रवासियों की एक सच्चाई है। माता-पिता के सांस्कृतिक पक्ष और जीवन-दर्शन का अनुमान लगाने में

युवा पीढ़ी असमर्थ बन जाने के कारण प्रवासी भारतीय परिवार हमेशा द्वन्द्वात्मक स्थिति से गुज़र रहा है।

यूरोप और अमेरिका में 'नस्लवाद' आज भी अपने जघन्यतम और अत्यन्त बर्बर रूप में मौजूद है। अपने देश में बैठकर गोरों की तथाकथित रंगीन और काले लोगों के प्रति घृणा की बावत सुन लेना एक बात है पर पराये देश में निहायत असुरक्षित स्थिति में उस घृणा को झेलना एक नितांत भिन्न अनुभव है। गोरों के साथ आत्मीय संबन्ध बनाने में कुछ भारतीय समर्थ बन जाते हैं लेकिन सामान्य तौर पर भारतीयों के प्रति अंग्रेज़ों का संबन्ध उतना आत्मीय नहीं है। वहां भयावह क्रूर सन्नाटा है, रंगभेद है, दुराग्रह है और आदिम बर्बरता के रूप में गोरों द्वारा होने वाले अत्याचार हैं।

भारतीय सरकार और सत्ता प्रतिष्ठानों का रवैया प्रवासियों के प्रति सदा ही विचित्र रहा है। प्रारंभ में यह स्थापित किया गया था कि प्रवासी देश के प्रति वफ़ादार नहीं हैं। वे 'ब्रेन ड्रेन' का कारण हैं, पढ़ते-लिखते देश में हैं और अपनी सेवाएं विदेश में देते हैं। एक ज़माना था जब अखबार प्रवासियों की यह छवि प्रस्तुत करते नहीं थकते थे। कुछ प्रवासियों ने इस छवि को तोड़ने के लिए प्रयास किया। प्रवासियों के प्रति विश्वासघात वाला यह नज़रिया उस समय कुछ नये ढंग से देखा जाने लगा जब बड़ी संख्या में भारतीय पेशेवर खाड़ी और अरब देशों में जाने लगे तथा वहां से बड़े पैमाने पर विदेशी मुद्रा प्राप्त होने

लगी। अब इस बात की चर्चा होने लगी कि प्रवासी भारतीय अर्थव्यवस्था में क्या योगदान दे रहे हें। कुछ सालों बाद जब दूसरे क्षेत्रों में भी प्रवासी अपना योगदान दर्ज कराने लगे तब सत्ता प्रतिष्ठानों ने उन्हें संसाधन के रूप में स्वीकार किया और यह बात होने लगी कि भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में प्रवासियों का बड़ा योगदान हो सकता है। भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के दबाव तथा उदार आर्थिक नीतियों के चलते यह धारणा और अधिक पक्की हो गयी। आज भारत सरकार तथा सत्ता प्रतिष्ठान प्रवासियों को गरीब परिवार के धनवान सदस्यों का दर्जा दे रहे हैं।

प्रवासी भारतीय आज अपने समाज में गुणात्मक भागीदारी की माँग कर रहे हैं। वे केवल भारत सरकार और उद्योग तथा व्यापार जगत् तक सीमित नहीं रहना चाहते। वे उन अंचलों तक जाना चाहते हैं जहां उनकी जड़ें हैं। वे देश में अपनी भागीदारी को केवल एक पैसा लगानेवाले मुनाफ़ाखोरों के रूप में नहीं देखते पर एक ऐसे समुदाय के रूप में देखता है जो हर स्तर पर परदेश के प्रति प्रतिबद्ध हैं।

भारत - विभाजन से उत्पन्न विस्थापनः पृष्ठभूमि और विस्थापितों का जीवन - यथार्थ।

अंग्रेज़ी सत्ता ने सन् 1757 के पानीपत की लड़ाई के बाद, हिन्दुस्तान की उन्नति के सभी साधनों को समाप्त कर भारत को शिक्षा, संस्कृति, कृषि, व्यापार आदि सभी दृष्टियों से पंगु बना दिया। सन्

1857 की क्रान्ति को अंग्रेज़ों ने भारतीय वीरों को तोपों से उड़ाकर दबाया, बाद के क्रान्तिकारियों को फांसी के तख्तों पर चढाकर आंदोलन को शान्त किया, सत्याग्रहियों को लाठियों से पीट-पीटकर जेलों में बंद कर अमन-चैन रखने का प्रयास किया और अंत में जब स्थिति काबू में न रही तो भारतमाता के हृदय को दो टुकड़ों में विभक्त कर देश में खून की नदियां बहा दीं जिसमें हिन्दुस्तानी जनता का सबकुछ बह गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अंत मं ऐसी चोट लगा दी कि उससे भारत की आत्मा सदा रुदन करती रहेगी।

विभाजन, स्वतंत्रता का सबसे बड़ा अभिशाप बनकर उपस्थित हुआ। जो लोग भारत की आज़ादी को मात्र सत्य, अहिंसा तथा शान्ति से प्राप्त वस्तु समझते हैं, उन्हें अपने विचार में परिवर्तन लाना होगा कि भारत की स्वतंत्रता, रक्तहीन क्रान्ति से नहीं प्राप्त हुई है उसके मूल्य के रूप में राष्ट्र को जो 'महारक्तदान' करना पड़ा उसे कैसे भुलाया जा सकता है। इस कुत्सित घटना के चक्र में सहस्र-सहस्र निरपराधियों की निर्मम हत्या हुई, करोड़ों विस्थापित हो गये। इन घृणित कार्यों से मनुष्यता के भाल पर कलंक की अमिट रेखा तो अंकित हुई साथ ही आंतरिक अशान्ति की नींव भी सुदृढ़ हो गयी।

भारत के इतिहास में विभाजन अभूतपूर्व घटना है। इस विभाजन का कारण न तो कोई बाहरी आक्रमण था, न गृहयुद्ध, न उत्पादन या पूँजी या बाज़ार की आर्थिक विषमताएं और न ही कोई

प्राकृतिक प्रकोप या स्थायी भौगोलिक अवरोध। प्रत्यक्ष रूप से, यह विभाजन राजनीतिक नेताओं द्वारा संवैधानिक रूप से किया गया निर्णय था। सैकड़ों साल तक चलनेवाले बाहरी आक्रमणों, धार्मिक संघर्षों, जातीय विभेदों, राजनीतिक विद्रोहों, सामाजिक विषमताओं और सारी प्राकृतिक आपदाओं के बीच भी देश का कोई विभाजन नहीं हुआ। मुगल बादशाहों ने भी सत्ता के खूनी संघर्षों के बीच देश का विभाजन नहीं किया। आर्थिक उत्पादन और विश्व बाज़ार की नयी प्रक्रिया यूरोपीय ताकतों द्वारा शुरू हुई, उसके आंतरिक संघर्षों के कारण भी कोई विभाजन या विघटन नहीं हुआ। अपने प्राचीन इतिहास, मिश्रित परंपराओं और सीमाओं को अक्षुण्ण रखनेवाला देश अंततः सन् 1947 में दो हिस्सों में बाँट दिया गया। संवैधानिक तरीके से एक देश को तोड़कर उसके अंदर से ही उसके प्रतिद्वन्द्वी देश को जन्म दिया गया।

विभाजन की घटना भारतीय राजनीति में उल्कापिंड की तरह उदित हुई और इसकी अशुभ छाया तले समस्त उपमहाद्वीप तड़प उठा। बँटवारा, एक चट्टान की तरह लोगों के सिर पर टूटा था और जब तक साँस ले पाते, कुछ सोच पाते-सदियों से अर्जित एक राष्ट्र का जज़्बा, संस्कृतिक एकता, जातीयता, मानवीय संबन्ध-सांप्रदायिक आग की लपेटों में जलकर राख होगए थे।

विभाजन के अनेक कारण हो सकते हैं और हैं भी, उस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि बँटवारे के

दौरान, उसकी वजह से तब से लेकर आज तक हमारे पारस्परिक संबंधों में, सांझे संस्कार और एहसास में जो कमी आती गयी, उसके भयंकर परिणाम हमारे सामने हैं। दरअसल विभाजन, एक मानवीय त्रासदी थी जिसने लाखों लोगों को भावना और विचार के धरातलों पर ही नहीं, मनोवैज्ञानिक, मानसिक और आत्मिक स्तरों पर भी प्रभावित किया, उन्हें बेघर और विस्थापित कर दिया, उनकी मूल्यचेतना को छिन्न-भिन्न कर दिया।

विभाजन, राष्ट्रीय आंदोलन की अवांछित व विकृत परिणति थी। उस संघर्ष का न कोई लक्ष्य था, न ही कोई दिशा। देश स्वतः धीरे-धीरे उस तरफ़ चला गया जिधर उसे जाना ही नहीं था। ऐसी स्वतंत्रता किसी के स्वप्न में ही नहीं थी। स्वतंत्र होने के नाम पर करोड़ों मनुष्य उन अधिकारों, सुविधाओं और स्वप्नों से भी वंचित हो गये जो स्वतंत्रता से पहले उन्हें गरिमापूर्ण और विश्वसनीय तरीके से सहज उपलब्ध थी। इस त्रासदी को समझने के लिए विभाजन की राजनीतिक, सामाजिक और सांप्रदायिक पृष्ठभूमि को यानी इतिहास को उसके संश्लिष्ट रूप में समझ लेना ज़रूरी है।

स्वशासन और स्वाधीनता का लक्ष्य प्राप्त करने की दिशा में भारतीयों के त्याग और बलिदान को अंग्रेज़ों ने समझ लिया था इसलिए वे जन-आंदोलन की बाढ़ को अपने ढंग से थामने और दिशा देने में जुट गये। सांप्रदायिक शक्तियों को भड़काकर वे अपनी सत्ता और

साम्राज्य को कायम रखना चाहते थे और यह काम उन्होंने इतने कौशल से किया कि भारतीय नेता हतप्रभ रह गये। उनकी कूटनीतिक चालों के परिणामस्वरूप भारतीय राजनीति को ऐसे मुकाम पर पहुँचा दिया गया जहां पहुँचकर विभाजन के सिवा अन्य कोई विकल्प दिखायी ही न दिया। 15 अगस्त 1947 को देश का विभाजन हो गया। जिस ख़ौफ़नाक सांप्रदायिक स्थितियों से बचने के लिए विभाजन स्वीकार किया गया, वे ही गति-विधियां विभाजन के दिनों में और उसके बाद और तेज़ हो गयीं। अमानवीय कारनामों का न खत्म होनेवाला सिलसिला शुरू होगया। विभाजन के ऐन वक्त और बाद में, जो नर-संहार हुआ, वह भारतीय इतिहास की ही नहीं, विश्व-इतिहास की एक करुण त्रासद घटना है। यह दुर्घटना लाखों लोगों के विस्थापन की समस्या से जुड़कर और भी भयावह हो उठी। जिस टूटन की प्रक्रिया तब शुरू हुई, वह आज अधिक विकट और भयावह शक्ल अख्तियार कर चुकी है। विभाजन के दौर के अग्निकांड ने बाद में मानवीय संबंधों में जो दरार, उलझन और विरोधाभास पैदा किये उन्हें संवेदनात्मक और वैचारिक दृष्टि से समझने के लिए भारतीय विभाजन के इतिहास की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करना बहुत आवश्यक है।

भारत विभाजन का इतिहास।

विभाजन एक ऐसा सुलगता दस्तावेज़ है जिसकी एक व्याख्या या एक विश्लेषण संभव नहीं है। इसकी कई व्याख्याएं और

विश्लेषण हुए हैं जो ज़्यादातर राजनीतिक आधारों पर किये गये हैं। बँटवारा महज एक घटना नहीं, वह इतिहास का एक जलता हुआ टुकड़ा है जो हमसे बिना पूछे हमारी आत्माओं में समा गया है और हम कुछ नहीं कर सके।

सन् 1800 में व्यापार के लिए आये अंग्रेज़ भारत की समृद्धि से आश्चर्यचकित हो गये और यहां के राजाओं के मन में घृणा पैदा करके उन्हें आपस में लड़ाकर अपने को भारत में एक प्रभावित क़ौम बनाने में सफल हुआ। धीरे-धीरे, प्रशासनिक व्यवस्था में अंग्रेज़ों के घुसपैठ की बुरी नीयतों से वाकिफ़ होकर भारतीय शासक सावधान हो गये। सन् 1757 में बंगाल के नवाब, सिराजुल-उद्द-दौला ने प्लासी के जंगभूमि पर अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। प्लासी युद्ध में हुए विजय से अंग्रेज़ों ने भारत में अपना राज्य स्थापित किया जो सन् 1947 तक चलता रहा। सन 1857 में पहली बार अंग्रेज़ी राज्य के अस्तित्व को समाप्त कर देने के लिए व्यापक क्रांति हुई। यही भारतीय इतिहास का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था जिसे दबाने में अंग्रेज़ सफल हुए। लेकिन हिन्दू - मुसलमान के बीच बढ़ते संबंध को देखकर यह महसूस कर लिया गया कि इन दोनों संप्रदायों की एकता में फूट डालने पर ही भारत में शासन करना आसान होगा। इसके लिए वह अपने हितों की रक्षा के लिए सांप्रदायिकता को खुले आम बढ़ावा देने लगे और बड़ी चतुराई से हिन्दु-मुसलमानों को इसके लिए उकसाता रहा।

सांप्रदायिकता की इस पृष्ठभूमि में से ही मज़हब के आधार पर दो क़ौमों, दो राष्ट्रों का सिद्धांत उभरा और बँटवारा हुआ।

कांग्रेस का स्वाधीनता की ओर प्रयाण तथा देश में फैल रही व्यापक राष्ट्रीयता की भावना को देखकर अंग्रेज़ी सरकार ने राष्ट्र की एकता को खंडित करने का प्रयास किया जो सन् 1905 में बंग-भंग के रूप में प्रतिफलित हुआ। 1903-04 में बंगाल, राष्ट्रीय आंदोलन का केन्द्र था इससे सरकार पूर्णतः भयभीत हो चुकी थी और हिन्दु-मुसलमान भेद-भाव उत्पन्न करके बंगाल को दो भागों में बाँटकर उसकी संगठित शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देना चाहती थी। बंगाल-विभाजन की घोषणा से राष्ट्र में उथल-पुथल मच गयी और इस उत्तेजना की लहर को देखकर इस विभाजन को अंग्रेज़ सरकार ने रद्द कर दिया।

कांग्रेस जैसी एक राष्ट्रीय महासभा का विरोध करने के लिए अंग्रेज़ों ने एक दूसरी संस्था के निर्माण का विचार किया। 30 दिसंबर 1906 में ढाका में विभिन्न मुस्लिम नेता एकत्र हुए और कांग्रेज़ की बराबरी करने के लिए उन लोगों ने मुस्लिम लीग की स्थापना की। लीग के सदस्यों ने कांग्रेज़ को एकमात्र हिन्दुओं की संस्था के रूप में प्रचलित किया। इसलिए जब कांग्रेज़ ने स्वाधीनता की माँग को सुलझा लिया तो लीग ने मुसलमानों के लिए अलग राज्यक्षेत्र और शासन की माँग की। उसी अलग शासन-क्षेत्र के लिए 'पाकिस्तान' शब्द का प्रयोग किया गया। मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र का ज़िक्र सबसे पहले

सन् 1933 में इंग्लैंड में पढ़ रहे कुछ छात्रों ने किया था और इसे लेकर 'पाकिस्तान नेशनल मूवमेंट' शुरू की थी। इस आंदोलन के नेता, चौधरी रहमत अलीं ने पंजाब से प, अफ़गान से अ, कश्मीर से क, सिन्ध से स और बलोचिस्तान से तान को लेकर 'पाकिस्तान' शब्द गढ़ लिया था। सन् 1935 के आसपास ही मुस्लिम चेतना में एक ठोस राजनीतिक आधार मिलना शुरू हुआ। 1937 के आम चुनाव में असफल हो जाने के बाद, मुस्लिम लीग ने तेजी से मज़हब और संप्रदाय को अपनी गतिविधियों का धुरी बना ली थी। अंग्रेज़ी शासक, मुस्लिम लीग को बढ़ावा देकर कांग्रेज़ की बढ़ती शक्ति पर रोक लगाना चाहते थे। लीग को बहुसंख्यक मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था के रूप में मान्यता देकर कांग्रेज़ के सामने खड़ा कर दिया गया। 16 अगस्त 1946 को मुस्लिम लीग द्वारा सीधी कार्रवाही दिन की घोषणा से कलकत्ता में हुए दंगों के परिणामस्वरूप जो रक्तपात हुआ वह भी लीग और ब्रिटिश हुकूमत द्वारा भारतीय नेताओं को धमकाने के लिए काम में लाया गया। इस मिली-भगत को कांग्रेज़ ने ज़रूर भाँप लिया था लेकिन उसे रोक पाने में असमर्थता अनुभव कर रही थी। सन् 1939 में मुस्लिम लीग की कार्यवाहियों का अधिक प्रभाव होने से काग्रेज़ अपने ही जाल में फंस गये।

सन् 1922 में मुहर्रम के अवसर पर, 1923 में पंजाब और बंगाल में, 1924 में दिल्ली, लखनऊ, नागपुर, इलाहाबाद में,

1925, 1926 और 1927 में पंजाब, बंगाल, दिल्ली, बिहार आदि प्रांतों में संप्रदायिकता के नाम पर हुए दंगों में अनेक अमानवीय व्यवहार हुए। सांप्रदायिकता के नाम पर कुछ संस्थाओं का भी निर्माण हुआ जिन सबका परिणाम भारत को विभक्त करना ही हुआ।

हिन्दुस्तान का बँटवारा करने में माउंटबेटन की केन्द्रीय भूमिका रही है। विभाजन को उन्होंने बड़ी होशियारी से भारतीय नेताओं के मन में उतारा गया कि नेताओं का विरोध धीमा होता गया। उन पर यह आरोप है कि उसने बँटवारा करने और सत्ता सौंपने में जल्दबाज़ी और हड़बडी से काम लिया। मार्च 1946 तक दिल्ली के सरकारी महकमों में एक भी ऐसा कागज़ नहीं था जो बँटवारे से संबंधित था। माउंटबेटन ने मई के पहले सप्ताह शिमला पहूँचकर भारत के विभाजन की एक योजना तैयार की थी और पं. नेहरू इसे पढ़कर भड़क उठे और उन्हें लगा कि यह योजना हिन्दुस्तान को दो नहीं, दसियों टुकड़ों में बाँटने की साजिश है। माउंटबेटन ने केवल छह घंटों में एक और योजना बनवायी। हड़बड़ी में की गई इस योजना को नेहरू ने स्वीकार कर लिया। जून 1948 तक इन्तज़ार करने के लिए माउंटबेटन तैयार नहीं था और वह ब्रिटिश साम्राज्य की नीति को बड़ी होशियारी से लागू कर रहा था।

पाकिस्तान की माँग का आधार मज़हब था जिसे मुहम्मद अली जिन्नाह ने राष्ट्र का आधार बना लिया। विभाजन की आग में

भारत तपने लगा। राजनीतिक नेताओं के उदासीन सोच ने बदले की भावना को बुरी तरह उकसाया और जो नरसंहार हुआ, वह भारतीय इतिहास का ही नहीं विश्व इतिहास का भी एक दर्दनाक, दिल दहला देनेवाली घटना बन गयी। इससे जो हिंसा और अराजकता फैली, भय, संत्रास और आंतक की जो मनोवृत्तियां बनीं, विस्थापन की जो बहुमुखी आपदाएं फूटीं, धर्म और संस्कृति में जो गहरी फाँक आयी उसने हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों को वर्षों तक जकड़े रखा। माउंटबेटन ने ढाई महीने से भी कम समय में इतिहास की असाधारण प्रशासनिक कारवाई को अंजाम दिया जबकि सच यह है कि ज्लदबाज़ी में उसने जो कारवाई की उसकी वजह से दोनों तरफ हज़ारों-लाखों लोग मारे गये, उससे कई गुना ज़ख्मी हुए और अपना घर-बार छोड़ कर भागने पर, 'शरणार्थी' या 'मुहाजिर' बनने पर मजबूर हुए। विभाजन के बाद का रक्तपात एक बड़ी हद तक रोक सकता था, अगर आबादी की अदला-बदली योजनाबद्ध रूप से हुई होती। इसके अभाव में जो परिस्थिति बनी, वह बहुत विकट थी।

यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जिस दिन भारत स्वतंत्र हुआ, उसी दिन देश का विभाजन भी हुआ। जिस दिन स्वाधीनता का सपना पूरा हुआ, उसी दिन विभाजन के दुःस्वप्न का प्रारंभ भी हुआ। आज़ादी से आज तक के भारतीय इतिहास में दंगों की जो राजनीति चलती रही उसे देखते हुए लगता है कि हिन्दुस्तानी मन

में विभाजन एक ऐसा नासूर बन चुका है जो आज भी रिस रहा है। उसकी शक्ल बदलती रहती है और वह नये-नये रूपों - आकारों में, बड़े पैमाने पर खलबली मचाता रहता है।

विभाजन से विस्थापित लोगों का जीवन-यथार्थ।

देश-विभाजन, भारत की स्वतंत्रता और राष्ट्रीय उपलब्धि का ग्रहण है जिसकी काली छाया में मानवता क्षत-विक्षत और आहत हुई, सामाजिक विकास की गतिविधियाँ बाधित और ठप्प हुई हैं, स्वतंत्रता का स्वप्नभंग हुआ। जिस भारत की कल्पना स्वाधीनता आंदोलन के शहीदों और क्रान्तिकारियों ने की थी वह धूमिल और प्रायः नष्टभ्रष्ट हुई। सिरिल रेडक्लिफ़ जो विशद ज्ञान के अभाव में भारत को विभाजित करके कुछ ऊटपटांग लकीरें खींच दीं जिससे करोडों लोगों के अस्तित्व मिट गये। मानव इतिहास में यह सबसे बड़ा स्थानांतरण था जिसमें लोग अपनी जड़ों से उजड़कर विस्थापित हो गये।

सन् 1947 में कठमुल्लों की हठधर्मिता और मौकापरस्त राजनेताओं की निकट स्वार्थपरता से भारत का जो अप्राकृतिक विभाजन हुआ उसमें करोड़ों लोग विस्थापित हुए। यह विभाजन, भारतीय सामान्य जनता की सुरक्षा पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। रक्त की नदियां बह रही थी, अनगिनत लाशों के पहाड़ खड़े हो गये थे- यह आज़ादी थी या विनाश का तांडव। बिना तैयारियों और सूचनाओं के आधार पर लोग देश छोड़ने के लिए बाद्य हुए। फलस्वरूप, हड़बड़ाहट और

घबराहट शुरू हुई और अपनी जड़ों से उजड़े लोग विस्थापित हो गये।

देश-विभाजन के साथ कुछ प्रान्तों का भी विभाजन होना था। पंजाब में लाहौर और बंगाल में कल्कत्ता की स्थिति बहुत समय तक अनिश्चित बनी रही। 4 जून 1947 को वायसराय माउंटबेटन ने देश-विभाजन की विधिवत् घोषणा की। जुलाई के पहले सप्ताह में यह लगने लगा था कि लाहौर पाकिस्तान में जा सकता है। दूसरी जगहों की अपेक्षा यहां हिन्दु-मुसलमान संबंध भी बेहतर था। लाहौर में 80 प्रतिशत जायदाद हिन्दुओं की थी और लोगों को लगा कि राजनीति की यह आँधी थोड़े समय की है। लेकिन जल्द ही सबकुछ उलट-पुलट जाता है। पूर्व से मुसलमान और पश्चिम से हिन्दु भारी मात्रा में लाहौर आने लगते हैं। बड़ी संख्या में प्रतिदिन पहुँचनेवाले इन जत्थों के कारण लाहौर के लोग अनिश्चय और असुरक्षा की स्थिति में दिन काटने लगे।

विभाजन तक कांग्रेज़ी नेता यही कहते रहे कि पंजाब और पूर्वी बंगाल में हिन्दु सुरक्षित हैं। उन्होंने न तो इन लोगों को भारत आने की सलाह दी और न उनकी रक्षा के लिए कोई प्रयत्न किया। इस अदूरदर्शिता का परिणाम यह हुआ कि अरबों रूपयों की हानि सहकर, सहस्रों स्त्रियों का अपहरण कराकर और लाखों को मौत के घाट उतारे जाने पर, पंजाब के हिन्दू अपने बचे-खुचे सामान को पोटलियों में बाँध रेलगाडियों के साथ लटके हुए, अमानुषिक यंत्रणाएं सहते हुए भारत चल पड़े। राजनीतिक नेताओं ने भूभागों के साथ-साथ उनमें बसनेवाले

लोगों का भी बँटवारा कर लिया और वह बीभत्स रूप में- किसी के पैर को काटकर, किसी के हाथ को काटकर और किसी की अस्मत को लूटकर। बँटवारे की आँधी में धन के साथ लोग भी पत्तों की तरह टूटते-फूटते उड़ गये, नीचे दबकर सड़ते रह गये या फिर आग में चले गये।

लोगों की अदला-बदली शुरू हुई तो हिन्दुस्तानी फौज पूरी ईमानदारी के साथ लोगों को पाकिस्तान पहुँचा रही थी लेकिन पाकिस्तान से रेल और ट्रकों में लाशें ही पहुँचा रही थी। हो यह रहा था कि शरणार्थियों को बीच रास्ते में लाकर उनकी जवान बहु-बोटियों को छीनकर शेष सब लोगों को सामूहिक रूप से मार दिया जाता था। इन घटनाओं की हिन्दुस्तानी जनता पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पाकिस्तान जाने वाली ट्रेनों और ट्रकों पर आक्रमण करके सभी यात्रियों को मौत के घाट उतार दिये जाने लगा। इस प्रकार चारों तरफ़ हिंसा, ध्वंस और बीभत्सता की दानव लीला जाग उठी।

देश-विभजन के प्रश्न को लेकर जो नर-संहार हुआ, वह न केवल देश के माथे पर अपितु सारी मानव-जाति पर बहुत बड़ा कलंक है। इस 'नरबलि महायज्ञ' ने निरपराध मानव को जिस बर्बरता के साथ यातनाएं-यंत्रणाएं दी गयीं और अपमानित किया गया, वह कदाचित पिछले किसी महायुद्ध में भी न किया गया होगा। अमृतसर में पुलिस की वर्दियों में गुण्डों ने रेल यात्रियों की नृशंस हत्याएं की, मकानों को

जलाया, बच्चों को पत्थरों पर पटक मारा तथा औरतों को कहीं दूर अपने गुप्त स्थानों में छुपा दिया। संपूर्ण अमृतसर में सिर्फ लाशों का ढेर दिखायी पड़ता था। कानपुर में बर्बरता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। दो संप्रदायों के बीच हुए ये झगड़े वैसे थे जिन पर पशुओं को भी लज्जा आती-पिशाचों के भी रोंगटे खड़े हो जातें। नोआखाली, लाहौर, कलकत्ता आदि शहरों में भी धर्मांध लोग निरीह व्यक्तियों के मांसों से खिलवाड़ किया। कई स्थानों पर तो ऐसा पैशाचिक नृत्य खेला गया कि संसार भर की दैवी प्रवृत्तियां दाँतों तले उँगली दबाने लगीं। सबसे अधिक विभाजन संबन्धी अत्याचार लाहौर, अमृतसर, दिल्ली तथा कलकत्ते में घटित हुए। पहाड़गंज में कुछ लोगों का एक जुलूस निकला जिनके हाथों में भाले थे और उनकी नोकों पर बच्चों के, स्त्रियों के, आदमियों के कटे हुये सिर टंगे थे। अमृतसर से एक रेलगाड़ी रवाना होकर आठ घण्डों तक मारकाट, चीखों और कराहटों के दौर से गुज़रती हुई मंगलपुरा स्टेशन पर आ रुकी। रास्ते में सैकड़ों आदमी मारे गये और बहुत लोग घायल हुए।

देश-विभाजन ने लोगों को विस्थापित किया, लाखों की तादाद में लोग देश की सीमा पर इधर से उधर संतरण करते रहे। सरकार की ओर से रेलों की व्यवस्था की गई, परन्तु इनमें लोगों को आगजनी, लूट और हिंसा का सामना करना पड़ा। पैदल के रास्ते में भी लोगों ने सांप्रदायिक शक्तियों से मुक्ति के लिए कुओं में कूदकर आत्महत्या

की। लोगों ने अपने सामने जवान बहु-बेटियों के साथ बलात्कार होने, कत्ल किये जाने, नकदी लूट लेने की घटनाओं को अंजान होते देखा। यह घटना-क्रम एक दिन नहीं कई हफ्तों तक चला।

विभाजन काल में नारी ही सबसे अधिक अत्याचारों का शिकार हुई। अनेक औरतों की सामूहिक रूप से बलात्कार करके हत्या की गयी। नग्न स्त्रियों को बीच सड़क में वस्तुओं की तरह नीलाम कर लिये गये। नग्न स्त्री शरीरों का, ताजिये के समान नगाड़ों और बाजों के साथ जुलूस निकाला गया। इन दानवी प्रवृत्तियों को देखकर जनता के मन करार उठे लेकिन इस बहती धारा के साथ बहने के अतिरिक्त उनके पास और कोई रास्ता नहीं था। स्त्रियों की इज़्जत को गाजर - मूली की तरह उखाड़कर फेंक देने की क्रिया हिन्दुस्तान की आज़ादी में जैसी दिखायी पड़ी है, वह अभूतपूर्व है। भारतीय आज़ादी के मकान की नींव में सिर्फ शहीदों की रक्त-रंजित आत्माएं ही नहीं पड़ी हुई हैं बल्कि उससे कहीं बढ़कर स्त्रियों की अस्मत भी रखी हुई हैं। किन्तु शहीदों के खून और औरतों की अस्मत में बड़ा अंतर है, फर्क इतना है कि खून देश के दुश्मनों ने बहाया था, अस्मत आज़ादी पानेवालों ने लूटी है।

विभाजन के समय प्रतिहिंसा की भावना इतनी बलवती हो गयी थी कि लोग स्त्रियों की गोदी से बच्चों को छीनकर पीस देते थे। बँटवारे के समय न केवल जिंदे पुरुषों और स्त्रियों की दुर्गति हुई अपितु उनके लाशों की भी दुर्दशा हो गयी। सड़क के किनारे दोनों ओर बहुत-

सी आधी खायी, धूप में सूखकर, वर्षा से सड़कर काली हो गयी लाशें पड़ी हुई थी। विभाजन-रेखा पर पड़े लाश दोनों देशों के पुलिस वर्गों में विवाद-विषय बन गये और उसी में वह सड़ता रहा।

संवैधानिक तरीके से एक देश को फाड़कर उसके अंदर से ही उनके प्रतिद्वन्द्वी देशों को जन्म दे दिया गया। आज़ादी और विभाजन का फन्दा गर्दनों के गिर्द होने के कारण सांस लेना भी मुश्किल हो गया। यह विभाजन, भारतीय अन्तश्चेतना में ठहरा हुआ एक ऐसा तीर है जो चूँकि जिगर के पार नहीं हुआ था इसलिए हमें आज भी कसक और कसमसाहट दे देता है।

स्वतंत्र भारत में मुसलमानों की अवस्था

देश का विभाजन, ज़मीन पर न होकर दिलों पर हुआ। विभाजन की रेखा धरती पर नहीं हृदय पर खींची गयी। देश-विभाजन से सबको नुकसान हुआ, ज़्यादा नुकसान तो उन भारतीय मुसलमानों का हुआ जो पाकिस्तान नहीं गये। विभाजन के पश्चात् समुदाय का संपूर्ण अस्तित्व ही विभाजित हो गया। उनमें एक और सपना नवनिर्मित पाकिस्तान के प्रति आकर्षण पैदा कर रहा है तो दूसरी ओर स्वजनों से बिछुड़ने का दर्द सदा सता रहा था। इसके कारण वे मानसिक द्वन्द्व के शिकार बने। चारों ओर फैली नफ़रत की आँधी ने सबको दहशत से भर दिया था और वे असुरक्षित हो गये। यह अनुभव उसकी आत्मा को घायल कर रहा था कि उसे अपने देशप्रेमी होने के लिए प्रमाण देना

होगा अन्यथा उसे देशद्रोही ही समझा जाएगा। भारतीय मुसलमान बार-बार आहत हुआ और उनकी यह मनः स्थिति कभी न खत्म होने वाले ड़र में परिवर्तित हो गयी। उन्हें अपने अस्तित्व की असुरक्षा का भय बराबर सताता रहा। भारतीय मुसलमानों की इस स्थिति के लिए कुछ तो व्यवस्था की खामियां ज़िम्मेदार हैं और ज़्यादातर मुसलमानों की अपने तक सिमटी हुई मानसिकता ज़िम्मेदार है।

आज भी भारतीय मुसलमान अपराधबोध से ग्रस्त बहुसंख्यक द्वारा बनाये गये प्रश्नात्मक चक्रव्यूह में घिरा है। विभाजन की त्रासदी ने भारतीय मुसलमानों की देशभक्ति एवं राष्ट्रभक्ति के अस्तित्व पर अविश्वास की ऐसी रेखा खींच दी जिसे मिटाना आज तक संभव न हो सका। मुसलमानों में यह भय ज़रूर था कि आज़ादी के बाद, भारत में उनकी हैसियत दाल में नमक से ज़्यादा नहीं रहेगी। इसलिए इज़्जत से अपने एक देश में रहने के उद्देश्य में लोग पाकिस्तान चले गये। तमाम भय और प्रलोभन के बावजूद भारत का आम मुसलमान पाकिस्तान नहीं गया क्योंकि वह अपना घर, अपनी ज़मीन और अपनी विरासत को छोड़कर अजनबियों के बीच जड़-छीन वृक्ष की भाँति नहीं जी सकता था।

विभाजन के बाद, अधिकांश मुसलमान परिवारों से युवा पीढ़ी पाकिस्तान चली गयी। फलस्वरूप, घर के बुज़ुर्ग ज़िन्दगी की तन्हाई, त्यक्त बहु-बेटियों की देखभाल आदि कई विवशताओं के शिकार

बन गये। कल तक जिन लोगों का समाज में आदर होता था आज अवज्ञा, अपमान, अकेलापन, पारिवारिक परेशानियों से उनकी दुर्दशा हो गयी है। मुस्लिम समाज की अधिकतर युवतियां शादी की उम्र के कगार पर पहुँचकर भी उन्हें योग्य युवक प्राप्त नहीं हुए। कुंवारापन उनके जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन जाता है। अवर्णनीय, असहनीय पीड़ा लिए सपतित्यकताएं समाज में अनाश्रित हो गयीं। उनकी संतानें अनाथ बनकर अपने धुंधले भविष्य की ओर हैरत भरी निगाहों से ताकती रही।

पाकिस्तान बन जाने और हिन्दुस्तान में ज़मींदारी का खत्म हो जाना जिनपर बहुतम मुसलमान आश्रित थे जैसी स्थितियां मुसलमानों में तन्हाई के प्रमुख कारण बने। एक ओर अपनी मिट्ठी न छोड़ने की तमन्ना और दूसरी ओर अपनी ही मिट्ठी अपने पैरों तले से खिसकती देखने का एहसास के बीच भारतीय मुसलमान तनाव ही महसूस कर रहा था। असुरक्षा-बोध, मुसलमान समुदाय के सामने एक ज्वलन्त सवाल है। इसके कारण भारतीय मुसलमानों का आत्मविश्वास घटा। विभेदकारी राजनीति ने इन लोगों को अलग-थलग ही खड़ा कर दिया।

मुस्लिम वर्ग को राजनीतिक पार्टियां सिर्फ सुरक्षित वोट-बैंक के रूप में इस्तेमाल करती हैं। कभी एकाध छोटा-मोटा आश्वासन उनकी ओर फेंक दिया जाता है और कभी वह भी नहीं और सिर्फ ये झूठे

आश्वासन ही उन्हें लंबे समय तक धोखे में रखते रहते हैं। समाज और सियासत में बदलाव आने पर भी मुस्लिम वर्ग की हालत में कोई सुधार नहीं आया जिसे अब भी जहां-तहां चारे की तरह इस्तेमाल किया जाता है।

शरणार्थियों और मुहाजिरों की समस्याएं।

विभाजन की आंधी ने जीवन-व्यवस्था और जीवनमूल्यों को झकझोर दिया। जनजीवन, अपनी जन्मभूमि से उखड़कर मातृभूमि में आ रहा था, अपने परिवेश से उखड़कर नये स्थान, नये देश, अपरिचित लोगों के बीच पहुँच रहे थे। लोग मजबूरी में अपना वतन छोड़कर देश की अंजानी राहों में स्थापित होने के लिए बढ़े जा रहे थे। शरणार्थी, देश और समाज के लिए समस्या बन गये। इन्होंने राजनीति और सामाजिक-व्यवस्था को झकझोर दिया। संघर्ष ने शरणार्थियों के जीवन-मान के साथ सामाजिक जीवन-मान को भी बदला।

विभाजन से जुड़े पलायन के भगदड़ भयंकर भूकंप था जिसमें पृथ्वी के फट जाने तथा उसमें समा जाने में ही दोनों ओर के लोगों का कल्याण था। मनुष्य द्वारा मनुष्य की जितनी दुर्गति उस समय हुई, वह कल्पनाक्षेत्र से भी बाहर की बात है।

जालंधर के शिविर में मुफ़्त राशन प्राप्त करने के लिए लगी पंक्ति में सभी तबके के लोग निसहाय बनकर खड़े थे। दोनों देशों की सरकारों के सामने शरणार्थियों के पुनर्वास का प्रबन्ध सबसे बड़ी चुनौती

थी। विस्थापित लोग अपनी मेहनत से स्वयं ही नये जगह पर बसे। दिल्ली, पटियाला, जालंधर, अमृतसर जैसे शहरों में विस्थापित ने स्थानीय जनता को ही उनकी जगह से हिला दिया। पंजाबी विस्थापित राजस्थान, यू.पी., मध्यप्रदेश आदि सुदूर राज्यों में जाकर बसे और उन्होंने अपने संघर्षों से स्वयं को पुनः स्थापित किया। इसके लिए न उन्हें सरकारी सहायता मिली न स्थानीय संवेदना या सहयोग। उनके कठिन परिश्रम से ही वे विस्थापित से फिर स्थापित हो गये।

विभाजन से विस्थापित होने के लिए बाध्य स्त्रियां भय, दहशत, तनाव और शारीरिक शोषण से पीड़ित हुई। दोनों सरकारों जल्द ही अपने नैतिक दायित्व के निर्वाह के लिए सभी स्त्रियों को पुनर्वासित करने में लग गयी। उन दिनों औरत की कोई हैसियत नहीं थी, उनकी इच्छाओं का कोई महत्व नहीं था, उन्हें विरोध करने का कोई अधिकार नहीं था। बहुत दिनों तक परिवार से बिछुड़ने के बाद वापस आयी बहु-बेटियों को परिवारों ने स्वीकारने से साफ़ इन्कार कर दिया तो उनका अस्तित्व पूरी तरह मिट गया। यह अपमान न सह पाने के कारण अनेक स्त्रियों ने आत्महत्या कर ली तो कुछ लोग आगे जीवित रहने के लिए घरेलू नौकरानियाँ या वेश्याएँ बन गयीं।

स्थानीय लोगों के अमानवीय व्यवहार के बीच़ रहनेवाले शरणार्थियों को मरना पसंद था, भीख मांगना नहीं। शरणार्थियों ने अपने बलबुते पर भारतीय समाज में अपना विशिष्ट स्थान बनाया और

आज भारतीय अर्थव्यवस्था में शरणार्थी अति - महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

आज़ादी के शुरुआती दिनों में भारतीय मुसलमानों के लिए पाकिस्तान स्वर्ग से कम नहीं था। मुसलमान अपने परिवार के साथ उदास और भयभीत दृष्टि से दिल्ली और लालकिले पर हसरत की नज़र डालते हुए हुमायूँ की मकबरे की ओर चले गये। लेकिन बहुत जल्द ही उनका यह भ्रम टूट जाता है। पाकिस्तान में से बहुत सारे भारतीय मुसलमान खदेड़ दिये जाते हैं या दूसरे दरजे के नागरिक बना दिये जाते हैं।

पाकिस्तान रूपी जन्नत में अपने जीवन के सुखमय सपने लेकर पहुँचे लोग समस्त सच्चाईयों से वाकिफ़ हुए तो उनके सपने चकनाचूर हो गये। कठिन परिश्रम के बाद उन्होंने अपने जीवन को पुनःस्थापित किया लेकिन सामाजिक व्यवस्था में वे हमेशा 'मुहाजिर' बनने के लिए अभिशप्त थे। स्थानीय लोगों के अत्याचारों को सहते हुए दम घुट गये तो मुहाजिर ने अपने लिए अलग राष्ट्र की प्राप्ति के लिए 'सिन्धु देश आन्दोलन' शुरू कर दिया।

तमाम तरह के विघ्नों को पारकर विस्थापितों और शरणार्थियों ने भारतीय समाज में अपनी जगह सुरक्षित बना ही ली जबकि पाकिस्तान में मुहाजिरों को अभी भी पूरी तरह नहीं स्वीकारा गया और स्थानीय लोगों से उनके हिंसक संघर्ष चलते रहते हैं।

अनेक मुसलमान परिवार सीमापार से मन में यह सपना संजोकर गये थे कि उस पार पाकिस्तान में जन्नत उनकी राह ताक रही होगी। लेकिन वहां पहुँचकर उनके सपने मिट्ठी में मिल गये। वे अपने सपनों के देश में 'मुहाजिर' ही कहलाते रहे। ऐसे लांछनापूर्ण लेबल की तिक्तता के विष को वे चुपचाप पीते रहे। भारत से गये मुसलमानों के साथ वहां बदस्तूर भेदभाव और नाइन्साफ़ी का ज़ाहिलाना सलूक किया जा रहा है जिससे सब लोग बुरी तरह संतप्त हैं। मुहाजिर, इन विपरीत परिस्थितियों के चलते अपने को नये मुल्क से जोड़ नहीं पाया। परिणामस्वरूप, स्थानीय लोगों की घृणा, क्रोध और हिंसा का शिकार बन जाते हैं और ये लोग पाकिस्तान के नागरिक होने पर भी 'मुहाजिर' ही बने रहे।

विकास योजनाओं से हो रहे विस्थापनः भारतीय जनजातियों के विशेष संदर्भ में।

विकास से उत्पन्न विस्थापन

विकास, इंसान की मूलभूत ज़रूरत है। विकास का मतलब है सड़कें, बाँध, कल-कारखाने और बड़ी-बड़ी परियोजनाएं। विकास, कागज़ों पर नहीं होता और न ही इसे आकाश में लहराया जा सकता है बल्कि यह ज़मीन पर ही संपन्न होता है। वास्तविक विकास का ज़मीनी यथार्थ यही है। पर आज की परिस्थिति में विकास एक ऐसा शब्द है जो बेहद विवादास्पद और आतंकवादी रूप ले चुका है। देश का हर इलाका

फिलहाल जल-ज़मीन और जंगल के विनाश के खतरे को लेकर संवेदनशील है। बीते 50-60 वर्षों से परियोजनाओं के नाम पर जिस तरीके से इंसानी आबादी दर-बदर हुई है या सांस्कृतिक विरासत को नुकसान पहुँचा है या जैव संपदाओं का नाश हुआ है उसकी वजह से विकास के नागदंश की आशंका मात्र से लोग आंदोलन की राह चुनने के लिए कमर कस लेते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, बाह्य उपनिवेशवादी अर्थतंत्र से प्रभावित होकर भारतीय शासकों ने संपूर्ण देश में औद्योगिक विकास कार्यक्रम को व्यापक पैमाने पर लागू किया। खनिज संपदा के दोहन से लेकर सैकड़ों बड़े-बड़े कल - कारखाने और हज़ारों मद्यम और बड़े बांध बनाने का काम शुरू हुए। इन तमाम विकास योजनाओं से देश की प्रगति हुई परन्तु जिनकी गरीबी दूर करने के नाम पर ये योजनाएं बनीं, उन्हें ज़मीन से बेदखल कर दर-दर की ठोकरें खाने को मजबूर कर दिया गया। पिछले पाँच देशकों में विभिन्न विकास योजनाओं के कारण झारखंड में करोडों लोग विस्थापित हुए। सन् 1958 में राँची में भारी अभियंत्रण निगम (एच.ई.सी) की स्थापना से पच्चीस गांव और 12990 आदिवासी परिवार पूरी तरह विस्थापित हो गये। बोकारो स्टील प्लांट बनने से 46 गांव और 12487 आदिवासी परिवार विस्थापित हो गये। झारखंड क्षेत्र में शुरू हुए कोयला उत्खन्न के कारण 3.2706 आदिवासी परिवार विस्थापित हुए। जनगणना के अनुसार सन् 1951 में झारखंड

में आदिवासियों की संख्या 36.81% थी जो सन् 1991 में घटकर 27.67% हो गयी। पूणे के मूलसी नामक स्थान में बिजली परियोजना का काम शुरू किया गया था। स्थानीय लोगों ने इसके विरोध में 'जान अथवा ज़मीन' के नारे दिये। विस्थापन के विरोध में यह पहला आंदोलन था जो बुरी तरह असफल रहा। 52 गाँवों से विस्थापित हुए लोग मुंबई ओर पूणे में मज़दूरी करने के लिए बाद्य हुए। नेतरहाट फायरिंग रेंज के विरोध में 245 गाँव के आदिवासी 'जान देंगे ज़मीन नहीं' का नारा बुलन्द कर रहे हैं। बोध घाट हाइट्रल स्कीम और उड़ीसा के रेंगाली बांध से भी लोग विस्थापित हुए। महेश्वर पन बिजली योजना के कारण बहुत से आदिवासी विस्थापित हुए।

एक अनुमान के मुताबिक अभी देश-भर में तीन दर्जन से कहीं ज़्यादा ऐसी परियोजनाएं अस्तित्व में है जिनसे सीधा नुकसान हमारी जैव संपदा पर पहुँच रहा है। आनेवाले पाँच वर्षों में करीब चार दर्जन से अधिक ऐसी परियोजनाएँ जंगलों में लगायी जाएँगी जिनसे भारी विनाश की आशंका है और इससे अनेक जनजातियां जंगलों से विस्थापित हो जाऐंगी।

आज़ादी के बाद, दो पंचवर्षीय योजनाओं में करीब तिरासी हज़ार लोग विस्थापित हुए जिनमें 90% आदिवासी थे। बाँध बनें, कल-कारखाने अस्तित्व में आएँ - ये देश के समुन्नत विकास के लिए ज़रूरी है लेकिन सरकार इस तथ्य से मुँह मोड़ लेती है जो निर्माण हो

रहे हैं उनकी प्रेतछाया से प्रकृति, पर्यावरण और इंसान का अस्तित्व संकट में है। दामोदर घाटी परियोजना के अंतर्गत निर्मित बाँध पूरे होने तक हज़ारों परिवार मूल से उखड़ गये और पर्याप्त मुआवज़ा और पुनर्निवेशन की कमी में इधर-उधर भटकने के लिए बाद्य हुए। 99% आदिवासी, पुनर्वास की सुविधाओं से वंचित रह गये। रिहन्द से विस्थापित 146 गाँवों के लोगों के साथ और झारखंड के कोयल-कारो परियोजना के कारण विस्थापित लोगों के साथ भी यही हुआ। 1981 में रामगुड़म में नेशनल थर्मल पावर कारपोरेशन (एन टी पी सी) के कारण विस्थापित हुए लोगों के पुनर्वास का काम शुरु हुए तो सोलह साल तक कागज़ी कार्रवाई चलती रही। विस्थापितों के पुनर्वास से संबंधित अधिनियम को अनेक राज्यों ने बनाया। लेकिन हर साल दो-चार लाख लोग बेघर हो रहे हैं। सरकार उन्हें पुनर्वासित करने में असमर्थ है। सबसे बड़ी समस्या, भूमि के बदले भूमि की है। परियोजनाओं की अवधि काफी लंबी होने की वज़ह से उत्तरोत्तर परेशानियां बढ़ जाती हैं। मिसाल के तौर पर टिहरी परियोजना में पुनर्वास का काम दो दशकों से चल रहा है।

विकास योजनाएं, विशेष रूप से बांध-निर्माण से जनजाति वर्ग बिखराव के दौर से गुज़रने के लिए मजबूर हुआ। जिन ज़मीनों पर सांवली पिंडलियां थिरकती थीं वहां बांधों के कृत्रिम जलाशयों की उत्ताल तरंगें उछाल लेने लगीं। लाखों वनपुत्रों ने देश की खातिर

बलिदान देने के लिए तैयार हुए तो सरकार ने उनकी भावनाओं का गलत लाभ उठाया। सरकार ने उल्टे-सीधे कानून बनाये और उन कानूनों के बहाने आदिवासी जंगलों का सबसे बड़े दुश्मन और अतिक्रमणकारी ठहराये गये।

आज विकास के कारण समाज में विस्थापन, विकास आया है और साथ में इंसान बहुत आत्मकेन्द्रित हुआ है। विस्थापन से संस्कृति की मौलिकता को भारी झटका लगा। आज भारत के अधिकांश गांवों में विस्थापन से जनित गुटबंदी हैं, जातीय झगड़े हैं, वर्गीय स्वार्थ है और इससे जुड़े तनाव हैं।

पिछले साठ वर्षों की विकास प्रकियाओं तथा सरकार के रवैयों से यह बात स्पष्ट हो जाती कि इस लंबे अंतराल में जनजातियों को शोषण, भ्रष्टाचार, विस्थापन, पलायन और बेरोज़गारी के सिवाय कुछ नहीं मिला। विकास कार्यों को प्रोत्साहित कर रहे भूमंडलीकरण के कारण आज पुनः भारत में वही स्थिति उत्पन्न हो रही है जो आज़ादी के पूर्व ब्रिटिश काल में थी। किसी-किसी मायने में यह और भयंकर हो सकती है।

जनजातियों का इतिहास।

भारत, विविध जनजातियों का देश है। आदिवासी, विज्ञान के युग में भी अंधविश्वासों, रूढ़ियों, परंपराओं और लोक-आस्थाओं में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। विभिन्न विद्वानों ने अपने

विचारों से जनजाति के रूप को स्पष्ट किया है। "स्थानीय आदिम समूह के किसी भी संग्रह को जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो एक जनजाती कहते हैं।"[1] रिबर्स के अनुसार, "एक जनजाती, परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन होता है जिनका एक सामान्य नाम होता है, जिनके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय-उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और एक निश्चित एवं उपयोगी परस्पर आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं।"[2] डॉ. आर. एन. मुखर्जी के अनुसार, "एक जनजाति वह क्षेत्रीय मानव समूह हैं जो भू-भाग, भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्यता के सूत्र में बंधा होता है।"[3]

भारत के उत्तर भाग में गुजरात से लेकर असम तक और दक्षिण भाग में महाराष्ट्र से लेकर अण्डमान निकोबार तक लगभग सभी क्षेत्रों में जनजाति वर्ग फैले हुए हैं। यह एक ऐसे मानवसमूह हैं जो आज भी सभ्यता के आदिम स्तर पर हैं और प्रायः सभ्य समाज से दूर जंगली

1. गिलिन एण्ड गिलिन - 'कल्चरल सोश्योलजी', पृ. सं: 282.
   - द मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क।
2. डॉ. रिबर्स - 'रेसेज़ एण्ड कल्चर्स ऑफ इंडिया', पृ. सं: 358.
   - एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई।
3. आर. एन. मुखर्जी - 'पीपल एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स ऑफ इंडिया', पृ. सं: 43.
   - सरस्वति सदन, मसूरी।

या पहाड़ी क्षेत्रों में रहते हैं जो प्रत्येक अर्थ में अत्यधिक पिछड़े हुए हैं। इन आदिम समाज के लोगों को वन्यजाति, आदिवासी, कबीला, ट्राइब्स, जनजाति आदि नामों से संबोधित किया जाता है। ये सभी शब्द अपनी रूप-रचना तथा अर्थ-प्रक्रिया में एक दूसरे से भिन्न है। 'जनजाति' एक सामाजिक शब्द है जिसका अर्थ है 'जन्म लेना'। 'जनजाति' शब्द अंग्रेज़ी के 'ट्राइब' का भी समानार्थी है। हिन्दी में 'ट्राइब' के लिए 'कबीला' शब्द का प्रयोग किया जाता है जो मुख्यतः पहाड़ों, जंगलों तथा गुफाओं में रहते हैं।

पुरखों को देवता मानकर पूजने वाले आदिवासी को सभ्य समाज असुर, जाहिल, गंवार या अर्धमानुष माने जाते रहे हैं। प्राचीन भारत में आर्यों ने, मध्यकाल में मुगलों, रजवाड़ों ने तथा आधुनिक भारत में अंग्रेज़ों एवं अंग्रेज़ समर्थक प्रभुवर्ग ने आदिवासियों की पारस्परिक शासन प्रणाली, सामाजिक संरचना, अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति धर्मित ताने-बाने को नष्टभ्रष्ट कर दिया। वर्तमान संदर्भ में, यह बिना जाने हुए कि आदिवासी हमारी ही धरती, सभ्यता-संस्कृति और इतिहास के अपरिहार्य अंग हैं, हम उन्हें पराया समझते रहे हैं। अपनी तरह मनुष्य न समझकर किसी जंगली, पहाड़ी, पठारी दुनिया में रहने वाले जंगली वाशिंदे, आदिवासी या वनवासी जैसा कुछ समझते रहे हैं।

मुगलों ने आदिवासियों को जंगलों से खदेड़ना शुरू किया।

वे लोग इधर-उधर भटकने को मजबूर हूए, दाने-दाने के लिए मोहताज हो गये। अभाव में स्वभाव बदल गया, कुटिलता और चालाकी उनके स्वभाव में चस्पाँ हो गयी। कुछ लोग भीख मांगने लगे, कुछ लूटपाट को अपना पेशा बनाया। जीवन में आयी ऐसी लाचारी ने इन आदिवासियों को समाज की मुख्यधारा से अलग कर डाला। औपनिवेशिक युग में आदिवासियों का शोषण और उनके प्रति अन्याय बढ़ता गया। जनजातियों के संसाधनों पर दबाव पड़ने लगा। बड़े पैमाने पर इनकी ज़मीन और अन्य संपदाओं का विचौलियों द्वारा हस्तांतरण किया गया। इसके विरुद्ध कई आदिवासी विद्रोह हुए जिसे दबाया गया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, भारतीय संविधान ने आदिवासियों की सुरक्षा और विकास के लिए अनेक प्रावधान किये। इनमें संसद और विधानसभाओं में सीटों का आरक्षण, नौकरियों में आरक्षण आदि शामिल है। इन प्रावधानों के बावजूद आदिवासियों के शोषण और उनके संसाधनों का दोहन चलता रहा बल्कि इसने और भी विकराल रूप धारण कर लिया। इसी कारण आदिवासियों ने अनेक आंदोलन किये। इनके चलते भारत सरकार ने अनेक कार्रवाईयां कीं। उत्तरपूर्व में अनेक आदिवासी राज्य बनाए गए और इनको अधिकार भी दिये गये। देश में तीन राज्यों का निर्माण किया गया जिनमें आदिवासी बड़े महत्वपूर्ण हैं। झारखंड में 27% छत्तीसगढ़ में 30% और उत्तरांचल में 26%। इनके लिए केन्द्र सरकार में एक विशेष मंत्रालय की स्थापना भी की गई।

लेकिन इन सकारात्मक पहलुओं के बावजूद आदिवासी समस्या गंभीर होती जा रही है। सन् 2001 की जनगणना की आँकडों के अनुसार अधिकांश आदिवासी गरीबी-रेखा के नीचे हैं। उनके पर्यावरण और संसाधनों पर पहले से कई गुना दबाव बढ़ गया है। बड़े-बड़े विकास कार्यक्रमों के नाम पर उनकी ज़मीनें अधिकृत की जा रही है और उनके पुनर्वास की समुचित व्यवस्था नहीं की जा रही है। कई आदिवासी जातियां अपनी भाषा-संस्कृति को खो रही है और आदिवासी संस्कृति पर छाया संकट और भी गहरा हो गया है।

नई शताब्दी में जहां एक ओर आदिवासियों की समस्याओं के प्रति जागरूकता बढ़ी है वहीं दूसरी ओर उनकी समस्याएँ अधिक जटिल होती जा रही हैं। इन सबके कारण आदिवासियों का शोषण बढ़ेगा और अति-प्राचीन जनजातियां संभवतः विलुप्त हो जाएंगी। परिणामस्वरूप, आदिवासी समाज का अंतर्द्वन्द्व गहरा हो जाएगा। उन आदिवासी क्षेत्रों पर जो संसाधनों से भरपूर है, वैश्वीकरण का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया है। सभी की निगाहें आदिवासियों और उनके संसाधनों पर हैं। इस समस्या से जूझने के लिए कानून लागू होना बहुत आवश्यक है।

आज पूरी दुनिया में पर्यावरण के संरक्षण, लोगों का मानव अधिकार शोषण तथा भेद-भाव को ख़त्म करने के लिए आवाज़ उठायी जा रही है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारी सामाजिक व्यवस्था और

विशेषकर आदिवासियों की स्थिति पर पड़ रहा है।

विस्थापितों में जनजाति वर्ग

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रहित और राष्ट्र के विकास के नाम पर आदिवासियों की ज़मीन का सार्वजनिक प्रतिष्ठानों, खदानों, बड़े बांधों आदि के लिए अधिग्रहण हुआ और आदिवासी एक बिलकुल नये संकट से रू-ब-रू हुए जिसे 'विस्थापन' कहते हैं। औद्योगिक विकास के नाम पर बड़े पैमाने पर होने वाले ज़मीन के अधिग्रहण से आज जनजातियों के अधिकांश वर्ग विस्थापन का दंश भोग रही है। इंडियन सोशल इँस्टीट्यूट, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'विकास, विस्थापन और पुनर्वास' के अनुसार कोयला खदानों, बाँधों, नहरों, पार्कों एवं कारखानों के लिए अब तक डेढ़ करोड़ आदिवासियों को विस्थापित किये जा चुके हैं जिनमें से बमुश्किल से एक तिहाई से भी कम को पुनर्वासित किया जा सका है।

आदिवासी, भारतीय समाज के, देश की ज़मीन के सबसे पुराने, सबसे दमदार और प्रकृति से सबसे अच्छा संबंध रखकर जीने वाले लोग हैं। भारत में जब से विकास का क्रम शुरू हुआ उसकी मार सबसे ज़्यादा आदिवासियों ने उठायी। इन वनवासियों की पुश्तैनी ज़मीन, टोला और वनदेवता छीनने के बाद विकास का तक्षक इनके अस्तित्व को भी डँस रहा है। तभी तो भारत के लगभग दो करोड़ आदिवासी विस्थापित होकर नारकीय जीवन जीने को मजबूर हुए।

देश के आठ करोड़ आदिवासी लोगों की जीविका और संस्कृति उनके जंगलों एवं उसकी उपज से जुड़ी हैं। लेकिन उन्हें जंगलों से 'वननाशक', 'अवैध शिकारी' कहकर खदेड़ा गया और हाशिये पर रखा गया। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने सरकार को अपने अनुशासन में इन लोगों से जंगल बचाने की सलाह दी। इस हाल में आदिवासियों के लिए जंगल प्रतिबंधित हो गए, वहां जाना गैरकानूनी हो गया और वनोपज अपने साथ लाकर बेचना अवैध कारोबार हो गया। इस प्रकार जंगलों से आदिवासी अलग किये गये। समूचे जंगल राष्ट्रीय संपत्ति बन गये। लेकिन आज़ाद भारत में विकास का जो एजेण्डा बना, उसके अंतर्गत बाज़ार को भरपूर महत्व देना सरकार की मजबूरी थी। बाज़ार में माल की प्रचुता और आम नागरिकों की खरीदारी क्षमता के लिए रोज़गार पैदा करने की सख्त ज़रूरत थी तो कल-कारखाने, बाँध, सड़कें, रेलमार्ग आदि तेज़ी से अस्तित्व में आते चले गये। किन्तु विकास के जो अध्याय रचे गये उनका भारी असर जंगलों पर पड़ा। विकास की बेरहम मार से जंगल चौपट हो गये और जैव संपदाओं को व्यापक नुकसान पहुँचा। आदिवासी समाज अपने जंगलरूपी घर से बेघर हो जाने के लिए मजबूर हुए।

विकास के नाम पर सैकडों जनजातियों को अपने पैतृक निवास-स्थान, जंगलों से निष्कासित होना पड़ा। जब उन्होंने विरोध किया तो सरकारी दमन की यंत्रणा उन्हें झेलनी पड़ी और उनकी पैरवी

के लिए कोई मानवाधिकार अथवा स्वयंसेवी संगठन आगे नहीं आया। नतीजा यह हुआ कि जंगल के बादशाह रहे आदिवासी, मज़दूर बनने को विवश हो गये। यद्यपि बहुत-सी आदिवासी कल्याण योजनाएं सरकारी व गैर-सरकारी संगठनों द्वारा चलायी जा रही है। पर कोई भी उन्हें पूरी तरह राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल करने में असमर्थ रही जिस कारण भारतीय नागरिक के रूप में अपने अधिकारों से आदिवासी आज भी वंचित रहते हैं।

वस्तुतः विकास की तमाम प्रक्रिया और राजनीतिक नारों के बावजूद भी जनजाति समाज का बहुलांश आज भी हाशियेकृत होकर जी रहे हैं। जीवन के हर मोड़ पर ये लोग शेष समाज के लिए हास-परिहास का केन्द्रबिन्दु है, नृतत्व-वैज्ञानिकों के लिए नष्ट होती हुई नस्ल है जिसको बचाए रखने की चिंता से वे ग्रस्त हैं। आज यह समाज सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है जिनके लिए दैनिक जीवन की उपयोगी चीज़ हमेशा अनुपलब्ध है। आज भी ये लोग संघर्ष-पूर्ण ज़िंदगी व्यतीत करने के लिए विवश हैं। जब भी एक नयी विकास योजना स्थापित होती है, सदियों से स्थापित इनका घर-बार उजाड़ दिया जाता है और न चाहते हुए भी इन्हें अपनी मिट्ठी छोड़नी पड़ती हैं। सरकार द्वारा पुनर्वास के नाम पर प्रदान किए अपर्याप्त ज़मीन और शुल्क से पुनः स्थापित होने में ये लोग हार जाते हैं और विस्थापित होकर ही ज़िंदगी काटने के लिए विवश हो जाते हैं।

विस्थापित जनजातियों के जीवन-यथार्थ

बिहार, झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, राजस्थान, पश्चिम बंगाल, आन्ध्रप्रदेश और मध्यप्रदेश के आदिवासियों के जीवन पर गौर नज़र डालते हैं तो पता चलेगा कि चारों और वहीं बेचारगी हैं, विवशता है, बेबसी है जिनसे छुटकारा पाने की मंशा देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू रखा करते थे। तब से नौकरशाहों से लेकर नेताओं और उनके दलालों की एक नहीं कई पीढियां आयीं, आजीबो-गरीब नियम-कानून, सनसैनी पैदा करने वाले फरमान और ज़िंदगी-संस्कृति को लीलने वाली परियोजनाएं जो विकास के समनामी चादर ओढ़े प्रकट हुई। इन सबने जनजातीय भारत को लुटेरों-लोफ़रों, लालची तत्वों का उपनिवेश बना डाला। इसी वजह से आज़ाद भारत की राज्य-व्यवस्था से आज हर आदिवासी आहत है, उदास है, उत्तेजित है।

आदिवासीयों के नाम पर जो भी नवीन योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं वे उन लोगों के लिए भारी पड़ी। इन योजनाओं के नाम पर भारी संख्या में गैर आदिवासियों ने उनकी धरती पर प्रवेश किया और जंगलों का भयंकर शोषण करना शुरू किया। आदिवासियों को अपने सूद के जाल मे फँसाकर उनकी पथरीली ज़मीन को हथिया लिया और इससे पूर्ण रूप से बेसहारा होकर आज भी निर्धन आदिवासी, महाजनों के कर्ज़ के बोझ में दबे पड़े हैं। घूसखोर अधिकारियों, ठेकेदारों तथा

राजनीतिज्ञों ने आदिवासियों के जीवन बदहाल कर रखा है। इन लोगों के मिलीभगत से वनसंपदा हर दिन नष्ट हो रही है। सामंतों द्वारा यौनशोषण की घृणित कहानी शुरू हुई, वह आज भी जारी है। अपराध के क्रूर चंगुल ने जनजाति जीवन को अपने शिंकजो में कस लिया है। दैहिक-आर्थिक शोषण के अत्याचार के थपेड़ों को सदियों से झेल-झेलकर आदिवासियों ने समय के साथ समझौता कर लिया है। आधिकारियों और सिपाहियों के सभी जायज़-नाजायज़ माँगें पूरी करने के लिए आदिवासी मज़बूर हो जाते है और सरकार द्वारा संरक्षित जंगल 'पाप लीला के अड्डे' बन चुके हैं।

जनजातियों के जीवन के आधार बने जंगल पर सरकार ने अपना अधिकार जमाया। वन कानून की आड़ में वनविभाग देश का सबसे बड़ा ज़मींदार बन बैठा। 'महाराष्ट्र पुनर्वास अधिनियम 1989' और 'उड़ीसा पुनर्वास नीति' जैसे कई पैकेज विस्थापित गिरिजनों के लिए अस्तित्व में आये। मगर आदिवासियों की हालत बद से बदतर होती चली गयी। आज ज़मीन और जंगल से बिछुड़नेवालों की संख्या सवा दो करोड़ से ऊपर पहुँची है जिसमें साठ फीसदी से कहीं ज़्यादा आबादी आदिवासियों की है।

तथाकथित सभ्य समाज के लोग जनजातियों की सतरंगी संस्कृति को बेरंग करके उसे समाप्त कर देने की साजिश करते हैं। आदिवासी विकास के नाम पर कई योजनाएं बनती हैं, अनुदान प्राप्त

किये जाते हैं, शैक्षिक प्रकल्प बनते हैं, आवास, स्वास्थ्य और रोज़गार की योजनाएं बनती हैं किन्तु आदिवासियों को इसका पता तक नहीं चल पाता। भाषा की बाधा के कारण अधिकारियों के द्वारा जनजातियों के कथनों को अपने स्वार्थों के अनुसार तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर दिया जाता है, उनकी सामाजिक विशेषताओं को विकृत कर दिया जाता है। विकास के नाम पर उसके अस्तित्व को ही चुनौनी दी जा रही है। सभ्य समाज तथा विदेशियों द्वारा उनका स्त्री-समाज अपमान का शिकार बन जाता है।

विकास और विस्थापन के दंश से आदिवासी शोषित है। सेठ, साहुकार, ठेकेदार, सूदखोर, दलाल जैसे बाज़ारी-अंग आदिवासी बालकों से काम करवाते हैं, युवतियों को कलकत्ता और नेपाल ले जाकर बेचते हैं। इनकी सभ्यता-संस्कृति को चित्रों में बांधकर ले जाते हैं और विश्व-बाज़ार में पैसे कमाते हैं। बाहर से आये लोग इनके अपनी मिट्ठी का सौदा करते हैं, उनकी ज़मीन पर खड़े रहकर उनसे उनकी औकात पूछती हैं।

ज़मीन से उजड़ने-उखड़ने के बाद जनजाति समाज असंगठित क्षेत्रों में जाकर पनाह मांगते हैं और सब काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। कुछ लोग जोखिम-भरे कामों में भी हाथ डालते हैं। लाचारी में या परिस्थितिवश आदिवासी महिलाएं वेश्यावृत्ति को अपना पेशा बनाते हैं जिसकी वजह से ये लोग असाध्य बीमारियों की चपेट में

आ जाती हैं। दिन के वक्त खेतों में श्रम और रात में भूपतियों के बिस्तर पर जवानी झोंकती जनजाति महिलाओं की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। प्रजातंत्र की राज-व्यवस्था में जनजाति समाज को भयंकर झटका लगा। सरकार के सारे एजेंटों ने इन लोगों से अंगूठे की ठप्पे लगवाकर उनकी ज़मीन से लेकर जोरु तक अपने कब्ज़े में ले लिया। आदिवासियों के लिए सरकार एक अलग मंत्रालय को अस्तित्व में लाया जो खुद बहुत शिथिलता से गुज़रकर वन्य समाज को लाभ कम तकलीफें ज़्यादा पहुँचा रही हैं। राजनीतिज्ञों ने वोट पाने के लिए आदिवासियों के सामने झूठे वादे किये और अधिकार पाते ही वे सब वादे सुविधापूर्वक भूल जाते हैं।

वस्तुतः विकास के नाम पर जनजाति समूह अपनी जड़ों से अलग हो रहे हैं, यह एक विचारणीय मुद्दा है। औद्योगिक क्रान्ति के कारण नौकरी पाये व्यक्ति अपने परिवार से दूर हो जाने पर परिवार को आर्थिक तकलीफों से गुज़रना पड़ता है। जनजाति समाज की नयी पीढ़ी जिसके पास न ज़मीन है और न नौकरी, अपने ही समाज में एक अजनबी की ज़िंदगी जीने के लिए बाध्य होती है और क्रमशः सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ़ हो जाती है। औद्योगिक और सामाजिक विकास की प्रक्रिया ने जनजातियों के अस्तित्व पर गहरा आघात किया जिसके कारण वे अपने जंगलों और वहां की उन्मुक्त ज़िंदगी से दूर रहने के लिए बाध्य हुए।

आज़ादी के बाद देश-भर में बहुत से बदलाव आये। विकास योजनाओं के ज़रिए गांवों को सुविधाएं दी गयीं। लेकिन आदिवासी क्षेत्रों में बहुरूपीय विद्रूपताएँ इस कदर बढ़ती चली जा रही है जिससे भविष्य के प्रति सोचकर ही कँपकँपी छूटने लगती है। उनकी भूमि उनके हाथों से फिसलती जा रही हैं और वे भूख से बिलबिला रहा हैं। ज़िंदगी बचाने के लिए उन्हें हर कदम पर हर तरह के समझौते करने पड़ रहे हैं, फिर भी उनके नसीब में सुख-चैन नहीं है।

विकास के नाम पर प्रशासन द्वारा एक लंबे अरसे से जनजातियों के साथ हो रहे शोषण आज इस समाज की नियति बन चुकी है और न चाहते हुए भी ये लोग प्रशासनिक और सामंती व्यवस्था के सामने घुटने टेकने के लिए विवश हो जाते हैं। आज भारतीय जनजाति पूरी तरह से ड़री और सहमी हुई है। इस डर का कारण है सामंती समाज का आतंकित करने वाली समाजव्यवस्था और उन्हें परेशान कर रही सरकारी व्यवस्था जिसपर से अब इन जनजातियों का विश्वास उठ चुका है।

विस्थापन से जुड़ी समस्याएं भविष्य में अपनी विकराल रूप धारण कर लेंगी। विस्थापन की निरंतरता रोकने की ज़रूरत है अन्यथा उससे जन असंतोष उपजेगा। विकास के आयातित मानदंडों से विप्लव, विद्रोह और विनाश की आशंकाएँ गहराती हैं - ये सच बड़े ड़रावने लग रहे हैं।

बीसवीं सदी की एक कारुणिक परिघटना के रूप में विस्थापन दुनियाभर में गहरी सोच का विषय है। आजकल यह साहित्य का ज्वलन्त विषय भी बन गया है। समकालीन हिन्दी उपन्यासकार विस्थापन से जुड़ी समस्याएँ और उसके विविध रूपों के निमित्त समाज पर हो रहे उनके व्यक्त प्रभावों को अपने उपन्यासों के विषय बनाये। विस्थापन से जुड़ी समस्याओं के विभिन्न पहलुओं को किस तरह समकालीन हिन्दी उपन्यासों में प्रकट किया है उस पर अगले अध्यायों में विचार किया जाएगा।

तीसरा अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास में भारतीयों का अंतर्राष्ट्रीय विस्थापन।

भूमिका :

शताब्दियों से भारत के निवासी जीविकोपार्जन के निमित्त तथा व्यापार-वाणिज्य के लिए भी साहस करके अपनी मातृभूमि छोड़कर अन्य देशों में जाया करते थे। अनेक लोग नये देशों को ही अपना घर मानकर वहां की संस्कृति और सभ्यता में खपने भी लगे। फिर भी वे मूल भारतवासियों की समस्याओं से अपने को छुड़ा न सके बल्कि उन्हीं में उलझते रहे और उससे पार पाने का मार्ग न निकाल सके। प्रवासी अपने घर-परिवार छोड़कर नई परिस्थिति में चले जाने से उनकी मान्यताएँ बदलने लग जाती हैं। यहीं द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति का आगाज़ होता है और इससे उत्पन्न 'मानसिक विस्थापन' के पहलुओं को समकालीन उपन्यासकार अपने उपन्यासों द्वारा प्रस्तुत करते हैं। युगीन यथार्थ के समस्त पक्षों को पर्त-दर-पर्त खोलते हुए प्रत्येक प्रवासी संदर्भों को वास्तविकता से अवगत कराते हैं। इसके साथ, वे प्रत्येक वैदेशिक यथार्थों से भी अवगत कराता हैं जहाँ हर रिश्ता क्षणिक, अनाम, अर्थहीन एवं हर संबंध अजनबीपन की मानसिकता से ग्रसित है।

प्रवासी भारतीयों पर आधारित समकालीन उपन्यासों में विदेशों में गए भारतीयों के विविध अनुभवों-उनके संघर्ष, आजीविका की तलाश में निहित भागमभाग व तनाव - जैसे तत्व शामिल हैं। इन

उपन्यासों में विदेशों में पनपे अपने समाज की बुनावट है, क्षय होते रिश्ते हैं, बच्चों का विद्रोह है, टूटती-बिखरती ज़िंदगी की तीखी अनुभूतियों के साथ संबंधों के विच्छेदन से उत्पन्न मानसिक पीड़ा है।

गिरमिटिया मज़दूरों का जीवन - संघर्ष

भारत का विदेशों से संबंध का इतिहास बहुत पुराना है। इन व्यक्तियों का लक्ष्य प्रायः धर्म और व्यापार ही था परन्तु भारत में अंग्रेज़ों के शासन की स्थापना के बाद इस दृश्य में परिवर्तन हुआ। भारत में शासन किये विदेशी शक्तियाँ अपने - अपने उपनिवेशी देशों में हज़ारों भारतीय मज़दूरों को छल -कपट से 'गिरमिटिया मज़दूर' बनाकर ले गये। भारतीय मज़दूरों ने अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा करते हुए इन देशों का कायापलट कर दिया। 'इंडियन इंडेंचर लेबर सिस्टम' अर्थात् 'शर्तबंदी प्रथा' के अंतर्गत गये लोग अपने खेत मालिकों की क्रूरता, अत्याचार और शोषण के बीच अपनी जीवनधारा को आगे ले चले।

गिरिराज किशोर के 'पहला गिरमिटिया' और अभिमन्यु अनत के 'लाल पसीना' और 'और पसीना बहता रहा' जैसे उपन्यास लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले 'गिरमिटिया मज़दूरों' की यातना-भरी ज़िंदगी पर आधारित हैं जिसमें भारतीय मज़दूरों की विवशता है, उसका लोभ है, आकाँक्षा है, पतन है और विकास है।

अभिमन्यु अनत द्वारा रचित 'लाल पसीना' में उन भारतीय

मज़दूरों के जीवन -संघर्षों की कहानी है जिनके खून और पसीने से मॉरीशस की चट्टानें उपजाऊ मिट्टी में परिवर्तित हुई लेकिन उनके हिस्से रहे गये थे केवल अपमान और प्रताड़ना। यह उपन्यास मॉरीशस की धरती पर भारतीय मज़दूरों के प्रथम आगमन से शुरु होकर उनके ऊपर हुए शोषणों का विस्तृत वर्णन से आगे बढ़कर ज़ुलमों के विरुद्ध संगठित हाने में सफल हुए मज़दूरों के प्रतीक्षाभरी जीवन तक की घटनाओं का रोचक वर्णन है। इस उपन्यास के माध्यम से सिर्फ भारतीय मज़दूरों के जीवन ही नहीं, मॉरीशस का इतिहास भी पाठकों के सामने प्रस्तुत हुआ है।

1835 में अंग्रेज़ों ने मॉरीशस द्वीप में दास-प्रथा की समाप्ति कर शर्तबंध प्रथा की शुरुआत की जिसके अंतर्गत पाँच वर्ष के अनुबंध पर भारत से प्रति माह पाँच सौ मज़दूरों को ले आने की अनुमति दी गयी। पाँच वर्षों तक की गयी सेवाओं के एवज में भरपूर पारिश्रमिक लेने के साथ ये मज़दूर भारत लौटने या द्वीप में कहीं भी ज़मीन लेकर बसने को भी स्वतंत्र घोषित किये गये। लेकिन शक्ति-सत्ता के मद में चूर कोठी-मालिक अनुबन्ध की शर्तों को बेमानी करते हुए दास-प्रथा को पूर्ववत् जीवित रखे रहे। परिणामतः भारतीय मज़दूरों की संतानें पीढ़ी-दर-पीढ़ी 'गिरमिटिया' ही बने रहे। 1843 से 1907 तक साढ़े चार लाख भारतीय वहाँ ले जाये गये। भारतीयों की मेहनत से मॉरीशस की एक लाख एकड़ भूमि में गन्ने की खेती होने लगी और चीनी मिलों की

संख्या बढ़कर ढ़ाई सौ से अधिक हो गयी।

मॉरीशस के इतिहास में चंद ऐसे भी पन्ने थे जो भारतीय मज़दूरों के खून-पसीने से कुछ इस तरह भीगे हुये थे कि उन्हें न जला सकी और जो पन्ने जल गये उनकी राख को खाद समझ नियति ने खेतों में बिखेर दिया। इतिहास की बलि का वह सारा रक्त बहकर खेतों के रक्त से जा मिला और दबोचा हुआ वह इतिहास परतों के नीचे साँसों के लिए कैसे संघर्ष करता रहा, उसकी गवाही आज भी धरती की सौंधी गंध देती रहती है। इन रक्तरंजित पन्नों से प्रेरणा पाकर अभिमन्यु अनत ने भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों द्वारा चलाये अस्मिता के संघर्ष को महाकाव्यात्मक गरिमा के साथ प्रस्तुत किया है।

पत्थर पलटकर सोना पा लेने के प्रलोभन में मारीच देश में उतरते हर भारतीय मज़दूर के गले में जानवरों की पट्टे की तरह उनका पहचान नंबर डाल दिया जाता है। चौबीस घण्टे के अथम परिश्रम के बदले आधी देह कपड़ा, आधा पेट भोजन स्वीकारने की विवशता थी। उन्हें आतंकित करने की सतत् कारगुज़ारियाँ होती थी जैसे, काड़ों से पीट-पीटकर घाव बनाना और उनमें मिर्चे छिड़कना, गन्ने रस को मज़दूर के शरीर पर लगाके पेड़ पर बंधवाना ताकि लाल चींटियाँ उन्हें नोंचती रहें, कुत्तों से नुचवाकर देह तार-तार कर देना, मन की तरंग में किसी भी घड़ी किसी भी स्त्री से बलात्कार आदि। बिना दीवारों की इस चराहदीवारी में सभी मज़दूर कैदी थे। सभी के हाथ-

पाँव बंधे थे, सभी के होंठ सिले हुए थे और जीभ उकड़ी हुई थी।

पर्याप्त भोजन के अभाव में मज़दूरों को पत्थर उलटवाना पड़ा। लोग भारी पत्थरों को लुढ़काने में असफल होकर चाबुक के प्रहारों से धराशायी हो जाते थे। मज़दूरों को खाने के लिए कीड़ों से भरे चावल और बदबूदार दाल मिलते थे। गिरमिटियों की युवा पीढ़ी यह समझने लगी की उनकी हैसियत चावल के कीड़े का भी नहीं है तो उन्होंने इसके विरुद्ध लड़ने का निश्चय कर लिया। इसका ज़िर्क 'लाल पसीना' उपन्याम में देखा जा सकता है। इस उपन्यास का एक पात्र किसन, जो एक युवा गिरमिटिया था, कुन्तन नामक एक भारतीय सिपाही की सहायता से एक बैठक का आयोजन करता है। मज़दूरों के सुधराव के लिए स्थापित सभा जड़ पकड़ने लगी तो गोरे मालिकों ने उन्हें रोकने केलिए उन पर ज़ुल्मों की बारिश शुरु कर दी ताकि मज़दूरों की संगठन शक्ति नष्ट हो जाय। फिर भी किसन के नेतृत्व में आयोजित बैठक में अन्य कोठियों तक संगठन फैलाने का निर्णय ले लिया गया। इसी काम के लिए गये सोनालाल को सरदारों ने पकड़ा, उन्हें जो सज़ा मिली वह रोंगटे खड़े कर देनेवाले थे। उन्हें निर्वस्त्र करके उसके शरीर पर ईंख का रस लगाकर पेड़ से बाँध दिया गया। उसका शरीर जल्द ही लाल चींटियों से खदखद भरा और वह दर्द से कराह उठा। गन्ने रस की चोरी के अभियोग में पकड़े व्यक्ति को कँटीले पेड़ के साथ बाँधकर तब तक कोड़े लगाये जाते थे जब तक कि चीत्कार बंद न हो जाता था

और वह बेहोश होकर लुढ़क न जाता था।

मज़दूरों को मिली सज़ा में एक इस प्रकार थी कि उन्हें 'मौत के घर' में हाथ- पाँव बांधकर बंद कर दिया जाता था। बंदी के सामने एक अँगीठी रख दी जाती थी जिसके धधकते कोयले के अंगारों पर सूखी हुई लाल मिर्च छोड़ दी जाती थी। रस्सी में जकड़ा हुआ आदमी छींकते- खाँसते आधे दम का हो जाता था और कई अवसरों पर वह मर जाता था। अस्सी आदमियों का काम पाँच मज़दूरों से करवाया गया। उनके एक बूँद पसीने से एक बूँद गन्ने का रस बना और एक बूँद खून से एक कप चीनी बना।

अपने पर हो रहे अत्याचारों से तंग आकर अनेक लोगों ने आत्महत्या की। एक बार अधिकारियों ने लाश को पेड़ से नीचे लाने से मना किया तो सात दिन तक शरीर वहाँ झूलता रहा। बीमारियां फैलने के बारे में सोचकर लोग आतंकित हो गये। बीमारियाँ फैलने पर अनेक मज़दूर मर गये। उन लाशों को गाड़ी में लादकर जंगल के भीतर एक ही गड्ढे में गाढ़ दिया गया था। ज्वर से दग्ध लोगों को ज़बरदस्ती घसीट कर खेतों में ले जाया गया। एक मज़दूर की लाश को उसी कुएँ में फेंक दिया गया जिसका पानी पूरे बस्तीवाले पीते थे। मज़दूरों ने शरीर को निकालकर दफ़नाया और तीन दिन तक कुएँ का पानी नहीं पिया। लेकिन जीने केलिए मजबूर हुए तो नाक दबाकर पानी निकाला गया। मालिक द्वारा मज़दूरों को इस तरह मरने केलिए छोड़ने के पीछे

छिपा कारण यह था कि थोड़े ही दिनों में 350 मज़दूरों को लेकर एक जहाज़ आएगा।

गिरमिटिया मज़दूरों पर हो रहे शोषणों से किसन कभी - कभी सोचा करता था कि "इस देश में भारतीय लोग ही जंगल काटते हैं, चट्टानों को चीरते हैं, पत्थरों को हटाकर ज़मीनों को जोतते हैं, बोआई करते हैं, पौधों को सींचते हैं, फसल काटते हैं, जामुनी ईंखों को कारखाने तक पहुँचाते हैं, रस गाड़ते हैं, शक्कर भी बनाते हैं लेकिन शक्कर कोई और खा लेता है। ऐसा क्यों ?"[1]

जिस ज़मीन में मज़दूर खेती करके सब्जियां उगाकर अपनी स्थिति में थोड़ा सुधार लाया था, उस ज़मीन से हट जाने के लिए उन्हें आदेश मिला क्योंकि वहाँ गन्ने का नया कारखाना बननेवाला था। इस तीस बीघे ज़मीन का बड़ा महत्व था क्योंकि यहाँ लोग स्वतंत्र रूप से काम करते थे। प्रताड़ना, दारुण दंड और भीषण यंत्रणा के बाद यह तीस बीघा खेत ही इतिहास के धरोहर थे। इस विरासत को खोने की सोच मात्र से लोग आतंकित हो गये। इस विषय पर किसनसिंह का विचार यह था कि "यही मिट्ठी का टुकड़ा उन्हें क्षण-भर को यह ख्याल बिसारने का अवसर दे जाता कि वे लोग सिर्फ गुलामी के लिए ही यहाँ नहीं थे। इसीसे दासता की लाघव भावना को वे नकार पाते थे। अगली पीढ़ी को बंधन से छुड़ाने और उन्हें स्वतंत्र नागरिक बनाने का यही

1. अभिमन्यु अनत - लाल पसीना पृ. सं: 98

मिट्ठी का टुकड़ा पहला सोपान था। अगर यही ज़मीन पाँवों से खिसक जाये तो कल की पीढ़ी कहाँ खड़ी होगी।"[1] इस विषय पर बात करने पर गोरे साहब ने किसन सिंह पर गोली चलायी और उनकी मृत्यु इतिहास की मृत्यु थी। किसन सिंह का बेटा मदन के नेतृत्व में मज़दूरों ने अपनी ज़मीन पर कब्ज़ा तो किया लेकिन जल्द ही गोरे मालिकों ने सुअरों द्वारा उनके खेत को उजाड़ दिया। महीनों का परिश्रम मिट्ठी में मिल गया।

भारतीय मज़दूरों के जीवन संघर्षों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के लिए 'लाल पसीना' से उद्घृत यह वाक्य सर्वथा महत्वपूर्ण है। "जो लोग वीरान जंगल को काटकर उन्हें रमणीक और हरे - भरे खेतों में बदल रहे हैं वे ही इस दयनीय हालत में हैं। ज़ुल्मों में दब रहे है। विडंबना ही तो यह है कि मालिकों की तिजोरियों को भरकर भी मज़दूर का पेट खाली रहे। तन ढाँपने केलिए भी पर्याप्त कपड़े नहीं। मुट्ठी - भर लोग हज़ारों को अपने पैरों से रौंदें, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। ज़मीन हम जोतते हैं, मेहनत हमारी होती हैं, खून - पसीना हमारा बहता है और उपज की सारी फसल किसी और की हो जाय? यहाँ तो मज़दूर के पसीने की कीमत कुएँ के पानी से भी सस्ती है।"[2]

भारतीय मज़दूरों ने चट्टानों को तोड़कर समतल बनाया

---

1. अभिमन्यु अनत - लाल पसीना पृ. सं: 213
2. अभिमन्यु अनत - और पसीना बहता रहा पृ. सं: 199

और उनकी मेहनत से मॉरीशस की धरती रसीले और ठोस गन्ने के रुप में सचमुच सोना उगलने लगा। आज मॉरीशस की अर्थव्यवस्था का आधार गन्ने की यह खेती ही है। लेकिन जिन भारतीयों ने अपने खून और पसीने से इस मिट्ठी को उपजाऊ बनाया उन्हें क्या मिला? निरंतर प्रताड़ना, लांछन और अपमान।

पीढ़ी-दर-पीढ़ी गिरमिटिया मज़दूर खेतों को जोतता रहा, हरियाली देता रहा, चीनी के रूप में सोने की फसल उगाता रहा पर सिर्फ औरों के लिए। बदले में जो फसल काटी तो सिर्फ तंगहाली , सज़ाओं और गालियों की। गिरमिटिया मज़दूर समाज में अपनी स्थिति सुधारने में सफल होने पर भी अनेक अत्याचारों के शिकार हो रहे थे। इसके विरुद्ध आवाज़ उठाने में कठिनाई यह थी कि ये मज़दूर, मालिकों से ज़्यादा अपनी परछाईयों से ड़रते थे। मॉरीशस के जनसामान्य अपनी अस्मिता की रक्षा केलिए लड़े संघर्ष का वर्णन अभिमन्यु अनत कृत उपन्यास 'और पसीना बहता रहा' में दर्ज है।

भारत से गिरमिटिया मज़दूर बनकर गये लोगों के जीवन यथार्थ को इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। पहले जहाज़ ने कलकत्ता बंदरगाह से जिन बिहारी मज़दूरों को उठाया था उन्हें मारीच देश यानी मॉरीशस में जा फेंका था। बेशुमार लोग देश में फैली भुखमरी, शोषण, बेकारी और जिल्लत-भरी ज़िंदगी से बचने केलिए अपनी जन्मभूमि से विलग होकर रोटी की तलाश में निकले। कुछ लोगों

ने ब्रिटिश साम्राज्य की क्रूरता और यातनाओं से बचने केलिए देश छोड़ा। भारतीयों को उस अंजान द्वीप में से पत्थरों के नीचे से सोना मिलने की उम्मीद थी। पहले जहाज़ से पहुँचे व्यक्ति के अनुसार वे लोग तो जहाज़ में भेड़-बकरियों की तरह लाये गये थे तो बाद में पहुँचे व्यक्ति के अनुसार वे लोग आटे-चावल के बोरों की तरह लाये गये और गोदामों में फेंक दिये गये। वास्तव में उस द्वीप में पत्थरों के नीचे सोने नहीं मज़दूरों के अस्थिपंजर दबे हुए हैं। सत्तर वर्षों में पाँच लाख से ऊपर भारतीयों को बंजर पड़े उस द्वीप में पहुँचाया जा चुका था। जहाज़ में मज़दूरों को जायज़ खाना नसीब नहीं होता था। जहाज़ में सिमटकर रहने के कारण बीमारी फूट जाती थी और अनेक लोग मौत के घाट उतर गये। लाशों को समुद्र में फेंक दिया गया।

मज़दूरों के साथ हुए अत्याचारों की कोई सीमा नहीं थी। गोरे पूँजीपति की सालगिराह केलिए फूल तुड़वाने केलिए मज़दूर बालक को खतरनाक चट्टानों के ऊपर चढ़ाया गया। वहाँ से गिरकर बालक बुरी तरह ज़ख्मी हुआ फिर भी उन्हें न्याय नहीं मिला। जिनका देश है वे नंगे हैं और जिनका यहाँ कुछ भी नहीं वे मालिक। पूँजीपतियों द्वारा आयोजित घुड़दौड़ में गरीब मज़दूर भी पैसे लगाते हैं। लेकिन इस वक्त उनके साथ बहुत अत्याचार भी होते हैं। उनकी स्त्रियों को गुण्डे छेड़ते हैं, भीड़-भाड़ में उनके बच्चे खो जाते हैं। गोरे मालिक अपने कुत्तों से मज़दूरों को नोंचने केलिए भी तैयार हुए। 'बनारस कोठी' वह कोठी है

जहाँ मज़दूरों पर सबसे ज़्यादा ज़ुल्म ढाया गया है। यहाँ मज़दूरों को सबसे पहले कुत्तों से नुचवाया गया, उनके नंगे बदन को ईख के रस में डुबोकर तब तक पेड़ से बाँधे रखा गया जब तक कि लाल चींटियों ने उसे कंकाल में न बदल दें।

गिरमिटिया मज़दूरों की बिगड़ती दशा का कारण कोठी और कारखाना मालिकों का मज़दूरों के प्रति अमानवीय व्यवहार ही है। खदखद कीड़ों से भरे सड़े हुए चावल खाने के कारण गाँव -गाँव में बीमारी बढ़ती जा रही थी। शोषण और ज़ुल्म से पीड़ित, अनाज के अभाव में भूखे रहनेवाले मज़दूरों के बारे में सरकार को अवगत कराने केलिए अभिमन्यु अनत कृत 'और पसीना बहता रहा' उपन्यास के हरि नामक पात्र पदयात्रा का प्रबन्ध करता है। मज़दूरों के सभी कठिनाईयों से अवगत कराते हुए सरकारी अधिकारी, जॉन क्लार्क से हरि कहता है "हम लोग देश के लिए दौलत शक्कर के रुप में सफेद सोना पैदा करके भी भूखे मर रहे हैं जबकि धनी लोग और धनी होते जा रहे हैं। हम लोग गाय पालकर दूध पैदा करके भी अपने बच्चों को एक गिलास दूध नहीं पिला पाते जबकि धनपतियों के बच्चे दूध से बनी चॉकलेट और मिठाईयां खाते हैं। गांवों में हमारे बीमार बच्चे दूध की बूँद -बूँद के लिए तड़पते हैं और ये लोग कुत्तों को दूध पिलाकर उनसे शिकार कराया जाता है।"[1]

---

1. अभिमन्यु अनत - लाल पसीना पृ. सं: 211

जब मज़दूरों ने एकत्र होकर अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाने का निर्णय कर लिया तो उनकी एकता को नष्टभ्रष्ट कराने केलिए मालिकों ने साजिश की। सन् 1922 के 'श्रम कानून' को फिर से लागू करके मज़दूरों के संगठन पर पाबंदी लगाने की कोशिश की गयी। मालिकों के खिलाफ़ हड़ताल का आयोजन करने में मज़दूर सफल हुए लेकिन मालिकों के गुंडों द्वारा हुये हत्याकांड में अनेक मज़दूरों ने अपना प्राण बलिदान कर दिये।

दुनिया - भर में शर्तबंद प्रथा की समाप्ति के साथ - साथ मॉरीशस के भारतीय गिरमिटिया मज़दूर भी मालिकों के चंगुल से स्वतंत्र हुए। लेकिन वहाँ की अर्थ-व्यवस्था आज भी कुछ गिने-चुने अंग्रेज़ों तथा प्रांसीसियों के नियंत्रण में होने के कारण भारतीय मूल के लोग अपने प्राप्य केलिए निरंतर संघर्ष कर रहे हैं।

भारतीय मज़दूरों की मेहनत के कारण मॉरीशस की आर्थिक स्थिति सुधर गयी। मॉरीशस द्वीप में 90 प्रतिशत से ऊपर आय चीनी के निर्यात से होता है। इसमें से 75 प्रतिशत मुट्ठी भर ज़मींदारों और मिल-मालिकों को मिलता था। 10 प्रतिशत दफ़्तरी लोगों को जाता था और खेत - मज़दूरों के हिस्से सिर्फ 5 प्रतिशत बचता था। मज़दूर जो हज़ारों में थे, जो देश का धन पैदा करते थे, वही देश के सबसे अभावग्रस्त, सबसे कंगाल थे।

आज मॉरीशस को स्वतंत्र हुए बहुत वर्ष हुए, लेकिन भारतीय

संस्कृति को आज भी वहाँ हीन-दृष्टि से देखा जाता है। मॉरीशस के प्रवासी भारतीय वहाँ के सामाजिक- साँस्कृतिक- आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा करते हुए भारतीय संस्कृति और परंपरा को गौरवान्वित करने में जुड़े हुये हैं।

भारत से विस्थापित गिरमिटिया मज़दूर मॉरीशस में ही नहीं फिजी, ट्रिनिडाड-टुबैगो और दक्षिण अफ्रिका में भी शोषित हो रहे थे। दक्षिण अफ्रिका के गिरमिटिया मज़दूरों के जीवन -संघर्षों का विशद चित्रण गिरिराज किशोर कृत 'पहला गिरमिटिया' उपन्यास में है।

सत्रहवीं सदी के मध्य में आफ्रिका के 'वतनी' कहे जानेवाले लोग गोरों के अत्याचारों से तबाह हो गये। उन्नीसवीं सदी में पाँच लाख वतनी लोग, एक लाख गोरों के गुलाम बन गये। वतनी लोगों को न अपनी ताकत का पता था न अपनी धरती की प्रजनन शक्ति का। गोरे लोग धरती की उपजाऊ शक्ति पहचान गए लेकिन वनती लोगों की भाषा पहचानने में मुश्किल होने के कारण वे लोग अन्य देशों से मज़दूरों को आफ्रिका ले आने का निश्चय कर लिया। भारत से मज़दूरों को ले जाकर मॉरीशस की तरह अफ्रिका को भी बदलने की इच्छा गोरों में थी। अंत में 1860 में भारतीय मज़दूरों को लेकर 'टूरो' नामक जहाज़ मद्रास से एडिंग्टन बन्दरगाह पर आ गये। गिरमिट के आधार पर में 342 लोग थे, लेकिन रास्ते में कितने लोग मर गये, इसका पता गोरों को भी न था। वे कहते थे कि ये लोग जब मरना शुरु करते हैं तो चूहों की तरह मरते

हैं। कलकत्ता से आये 'बेवेलडर' जहाज़ में 310 मज़दूर ठूँस - ठूँसकर भरे हुए थे। पानी और खाने के अभाव में वे परेशान थे और जहाज़ के अफ़सरों ने भी लोगों पर अन्याय करते थे। औरतों का ईमान तक लूट लिए गये। जहाज़ से सागर में फेंक जाने के ड़र से अत्याचारों के विरुद्ध बोलने तक का साहस लोगों में नहीं था। बीमारियों से भी अनेक लोगों की मृत्यु हुई। जहाज़ में मरनेवाले लोगों के शरीरों को समुद्र में फेंक देते थे। अफ्रिका पहुँचने पर स्वास्थ्य विभाग के लोग द्वारा जाँच कर लेने के बाद मज़दूरों को बैरकों में रख दिया गया। नेटाल रेलवे विभाग, गन्ना उगानेवाले फॉर्म और होटलों के मालिकों ने भारतीय मज़दूरों को खरीदा। मज़दूरों को रहने केलिए जो घर मिले वह गंदगी और बदबू से हर पल भरा था। आदमी से गुलाम बन गये लोग अपने मालिकों के अत्याचारों के आगे पिसते रहे। बीमार पड़ जाने पर उन पर कामचोरी और गिरमिट तोड़ने की रपट तक लिखवाकर जेल भेज देते थे। वहाँ भी निस्सहाय मज़दूर काम करते -करते थक जाते थे और मौत की खाईयों में गिर जाते थे।

एक बार मॉरीशस की ओर मज़दूरों को लेकर जाते वक़्त अफ्रिका के पास दो जहाज़ टूट गये। गोरे मालिक अपने मज़दूरों की मदद से लाशों को किनारे ले जाकर अपने फॉर्म में गड्ढे खोदकर दफ़न कर दिया। उन्होंने भारतीय मज़दूरों की लाशों को अपने फ़सलों के लिए खाद के रूप में इस्तेमाल कर दिया।

भारतीय मज़दूर रोज़ी - रोटी की तलाश में दक्षिण अफ्रिका में पाँच साला गिरमिठ पर जाते रहते थे। वहाँ उनकी हालत दयनीय और रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। बड़े - बड़ें बाड़ों में बनी छोटी - छोटी कोठरियों में वे पशुओं की तरह रहते थे। गन्ने के खेतों, कोयला खदानों और कारखानों में जी-तोड़ मेहनत करने के बाद भी जीने केलिए ज़रुरी सुविधाएँ उन्हें मुहैया नहीं करायी जाती थीं। उनके साथ जानवरों से भी बदतर व्यवहार किया जाता था। भारतीय गिरमिटों की एहमियत 'गंदे कीड़ों' से ज़्यादा न थी। दक्षिण अफ्रिका में एक शर्तबंद सेवक के रूप में कानूनी तर्क सुलझाने आये मोहनदास करमचन्द गाँधी ने किस तरह गिरमिटिया मज़दूरों की हैसियत को सुधारने केलिए परिश्रम किया, यही गिरिराज किशोर कृत उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' की कथावस्तु है। उनके प्रयत्नों से भारतीय व वतनीय लोग शर्तबंद प्रथा से मुक्त हो गये लेकिन तब तक परिप्रेक्ष्य में फैले नस्लवाद एवं रंगभेद से बचने के लिए उन्हे लंबी समय तक संघर्ष करना पड़ा।

प्रवासी भारतीयों की गुलामी।

शर्तबंद प्रथा समाप्त होने के बाद लोग शारीरिक रूप से आज़ाद हुए लेकिन वे मानसिक रुप से गुलाम ही थे। गोरे मालिक ने नैतिक मान्यताओं का उल्लंघन कर लोगों को गुलाम बनाकर रखा। मज़दूर स्त्रियों को दैहिक शोषण का शिकार होना पड़ा और मज़दूर अपने मालिकों के यहाँ काम के बदले निरन्तर जेल में रहना पसंद करते थे

क्योंकि इसी में उनकी सुरक्षा थी। अत्याचार और उत्पीड़न के सबब से कूलियों में आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ी थी। सन् 1894 में कुल मिलाकर 1080 लोगों ने स्वेच्छा से मौत को गले लगाया था।

दक्षिण अफ्रिका में एक मुकदमे के सिलसिले में पहुँचे मोहनदास करमचन्द गाँधी किस तरह गुलामी मनःस्थिति का सामना किया, इसका विशद एवं रोचक वर्णन गिरिराज किशोर द्वारा रचित उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' में है। एक दिन अदालत में मोहनदास से पगड़ी उतारने को कहा गया, लेकिन उन्होंने इस आदेश का विनम्र लेकिन स्वाभिमानपूर्ण इन्कार किया। डरबन से प्रिटोरिया जाते हुए फर्स्ट क्लास का टिकट होते हुए भी एक गोरे ने उन्हें ज़बरदस्ती ट्रेन के नीचे धकेल दिया। मोहनदास भारतीय लोगों के मानसिक गुलामी के बारे में समझ गये और जिस प्रकार उन्हें अपमानित होना पड़ा, उससे उनकी कुंडलिनी शक्ति जागृत हुई। वे लोगों की दर्द से जुड़ने लगे। चार्ल्स टाउन स्टेशन में एक गोरे अफ़सर ने मोहनदास को 'कूली' कहा। उन्होंने मोहनदास को अंदर न बैठने दिया क्योंकि उनकी राय में ये लोग बीमारियों का पिटारा है। मोहनदास हिन्दुस्तानियों के ड़र और दब्बूपन को देखकर सेठ अब्दुल्ला से इसके कारण पूछते हैं। सेठ के अनुसार, "हम पैदा हिन्दुस्तान में हुए, जीते यहाँ हैं और जीने की शर्तें लंदन में तय होती है।"[1]

---

1. गिरिराज किशोर - पहला गिरमिटिया पृ. सं: 88

मोहनदास ने यह समझ लिया कि हिन्दुस्तानी होने के बावजूद भी दक्षिण अफ्रिका के भारतीय वंशजों में अपनेपन का अभाव है। भारतीय व्यवसायियों के लिए 'गिरमिटिया' लोग गरीब हैं और गोरों के दबाव में काम करना उनकी नियति है। मोहनदास ने भारतीयों के बीच की दूरी को निकालने की कोशिश की।

मोहनदास हमेशा गिरमिटियों के त्रासद ज़िंदगी के प्रति चिंतित थे। उनकी स्थिति सुधारने की प्रबल इच्छा से उसने 'इण्डेंचर्ड ला' को ध्यान से पढ़ना शुरु किया। बहुत-सी खतरनाक कानूनी धाराओं के बारे में जानकर वे आतंकित हो गये। स्त्रियों और बच्चों की स्थिति बहुत ही शोचनीय थी। भारतीय मज़दूरों को नैतिक शोषण का शिकार होना पड़ा। विवाहित जोड़ों को अलग करके बची हुई औरतों को मर्दों में बाँट दिया जाता था। एक औरत अधिक से अधिक पाँच कूलियों के बीच रखी जाती थी। मोहनदास को 'इण्डेंचर्ड ला' कसाईखाना ज़्यादा लगा। जानवरों से भी बदतर जीवन व्यतीत करने के लिए अभिशप्त गिरमिटिया मज़दूर जब तक साँस चलती थी अपने खून-पसीने से सींचकर धरती से गोरों केलिए सोना उपजाते थे और मर जाने पर उनकी हड्डियाँ वहाँ की धरती को और भी उपजाऊ बनाने में काम आती थीं। इस तरह प्रताड़ित भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों की चेतना में बुझी राख को प्रज्वलित कर उनके ठंड़े दिलों में संघर्ष और आज़ादी की लौ जगाने में मोहनदास सफल हुआ। उसने दक्षिण अफ्रिका और दूसरे उपनिवेशों

में गिरमिटिया मज़दूरों की हैसियत को बढ़ाने के लिए परिश्रम करने का निश्चय किया।

सभी उपनिवेशों में भारतीय प्रवासी 'कूली' कहलाते थे। वे लोग मुख्य धारा से अलग थे। जिस तरह भारत में अछूतों के टोले बस्ती के बाहर होते हैं उसी तरह ट्रांसवाल में कूलियों को 'कूली लोकेशन' में रखा गया था। वे वही रह सकते थे। यह स्थान भारतवासियों से ठसाठस भरा था। यहाँ सफ़ाई की कोई सुविधा नहीं थी और गंदगी का नंगा नाच था। गंदगी के कारण यहाँ काली प्लैग भी फूट पड़ी। कूली लोकेशन की सभी आबादी को वहां से तेरह मील दूर 'क्लिप्स फॉर्म' में भेज दिया गया और उस बस्ती को आग के सुपुर्द कर दिया गया था। गाँधी, अस्सी एकड़ ज़मीन खरीदकर उसका नाम 'फीनिक्स सहजीवन' रखा। दक्षिण अफ्रिका के गिरमिटिया मज़दूरों को इस नये आवास-स्थान के द्वारा साधारण नागरिक बनाने की कोशिश के बाद गुलामी मनःस्थिति में फँसे भारतीय वंशजों को भी काले नियमों के चंगुल से बचाने के लिए मोहनदास 'सत्याग्रह' का भी आविष्कार कर दिया।

भारतीय लोग मताधिकार संबंधी 'बिल' को लेकर चिन्तित थे क्योंकि अगर यह बिल, कानून बन जाते हैं तो जितना मताधिकार भारतीयों को प्राप्त था वह भी छीन जाता। भारतीय लोग अपने अधिकारों की रक्षा न बाहर कर पाएँगे और न संसद में कोई होगा जो उनके लिए आवाज़ उठा सके। यह बिल गुलामी के रंग को और भी गाढ़ा करने में

सक्षम था। मोहनदास ने लोगों को समझाया कि मताधिकार एक गरीब और कमज़ोर की सबसे बड़ी ताकत है। वह किस्मत बदलने की शक्ति रखती है। इस नियम को स्थगित करने केलिए मोहनदास ने खूब परिश्रम किये और 'मताधिकार संशोधन नियम' के खिलाफ़ प्रत्यावेदन का निर्माण भी किया। मोहनदास इस विषय पर नेटाल प्रधानमंत्री से मिले जिसका ड़र यह था कि अनपढ़ भारतीय अपने मताधिकार का गलत उपयोग करेगा। मोहनदास के समझाने और भारतीय वंशजों के विरोध के बावजूद भी यह बिल कानून बन गया।

अपने प्रयत्नों में असफल हुए मोहनदास ने भारत जाकर दक्षिण अफ्रिका के भारतीय वंशजों के दर्दभरे जीवन के बारे में शासक तथा राजनैतिक नेताओं को अवगत कराने का फैसला किया। अपने प्रयास में पूरी तरह सफल होकर लौटे मोहनदास डरबन के खुले सड़क में गोरों के आक्रमण का शिकार बन गया। उसने अपने साहस को मिटने न दिया और दक्षिण अफ्रिका के वतनी लोगों और भारतीय वंशजों को शारीरिक व मानसिक गुलामी के जंजीरों से मुक्त कराने में वह जी-जान से जुट गया।

मोहनदास करमचन्द गाँधी अपने प्रयासों में पूरी तरह सफल तो नहीं हुए फिर भी गोरों के आगे भारतीय व अफ्रिकी वंशजों की हैसियत को बढ़ाने व उन्हें गुलामी मनःस्थिति से निकालने के लिए उसने जो भूमिका निभायी, वह सचमुच स्मरणीय है।

नस्लवाद एवं रंगभेद के शिकार बने भारतीय प्रवासी।

सन् 1950 के बाद भारत की युवा पीढ़ी विदेशों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने केलिए पहुँची। ब्रिटेन और अमेरिका में वे नस्लवाद एवं रंग भेद का शिकार भी बन गये। गिरिराज किशोर कृत 'पहला गिरमिटिया' उपन्यास में दक्षिण अफ्रिका के नस्लवादी सिद्धांत के कारण भारतीय वंशजों पर हुए आक्रमणों का वर्णन है। होटलों में 'कालों' की जगह होते हुए भी न ठहराया जाना, उन्हें डॉयनिंग हॉल में खाने की अनुमति न देना, रात को नौ बजे के बाद सड़कों पर न घूमने देना-ये रंगभेद के खुले घाव थे। भारतीय वंशज, ब्रिटेन और अमेरिका में जो 'नस्लवाद' का शिकार हुआ वह सिद्धान्तों और मूल्यों पर आधारित था।

साठ के दशक में ब्रिटेन पहुँचे लोगों को बहुत ही मुश्किलों से गुज़रना पडा। लेकिन लोग वापस नहीं आये, वतन के लोग क्या कहेंगे-यही ड़र था। कभी-कभी भारतीय लोगों की चमड़ी काले हो जाने के कारण उन पर आक्रमण भी हुआ। नदी के द्वीप की तरह इनकी अलग-अलग दुनिया थी। कालांतर में भारत से बड़ी संख्या में शिक्षित लोग ब्रिटेन पहुँचे। लेकिन इस सफेदपोश लोगों ने अपने को पूरी तरह अंग्रेज़ी ज़मीन में रोपने की कोशिश में श्रमजीवी हमवतनों को अस्वीकार कर दिया। सातवें दशक से लेकर व्यापार के क्षेत्र में भी भारतीय सफल हुए।

प्रवासी, अजनबी पराये परिवेश में अपने अस्तित्व और अस्मिता

केलिए संघर्ष कर रहा है। उनके सामने विकट समस्या है - एक ओर अपमान, घृणा, ड़र और अजनबीपन की ज़िंदगी और दूसरी तरफ़ बेरोज़गारी की आशंका। यह तो विदेशों में जीविका अर्जित करनेवाले अधिकांश भारतीय प्रवासियों का द्वन्द्व है।

एक देश से दूसरे देश जाकर बसने वालों के सम्मुख अपनी सांस्कृतिक, दार्शनिक, सामाजिक और यहाँ तक कि नैतिक मूल्यों को लेकर बहुत दुविधाएँ आती हैं। भारत से अमेरिका तथा कनाडा जैसे व्यावसायिक राष्ट्रों में आये प्रवासियों के लिए इन देशों के मूल्यों के साथ समझौता करना सरल नहीं है। इस प्रक्रिया में उन्हें सदा एक प्रकार की मानसिक व्यथा का भाव पीड़ित करता रहता है।

ब्रिटेन में हो रहे नस्लभेद, रंगभेद और प्रवासी जीवन के दर्द की मार्मिक अभिव्यक्ति महेन्द्र भल्ला द्वारा रचित 'दूसरी तरफ़' उपन्यास में है। ब्रिटेन में रहनेवाले संपन्न प्रवासी भारतीयों के 'श्रीहीन चेहरों' पर रुथाई -सी दिखने वाली उदासी सर्वथा विद्यमान है। अंग्रेज़, दूसरों के व्यक्तित्व की परिधि के बाहर इत्मीनान से बेझिझक खड़ा होता है वही हिन्दुस्तानी 'एक दूसरे से चिपके आत्मविश्वास की कमी के कारण ईटोज़ रहना पसंद करते हैं'। भारतीय प्रवासियों के प्रति अंग्रेज़ युवा पीढ़ी की नफ़रत और शत्रुता का भाव, भारतीयों को अकारण अपमानित करने की उनकी सहज प्रवृत्ति, पुलिस का पक्षपात, भारतीय प्रवासियों में भय और असुरक्षा की भावना का वर्णन इस उपन्यास में है।

केवल एक शिक्षित भारतीय युवक है जो भारत की बेरोज़गारी से तंग होकर अपनी रोज़ी-रोटी कमाने के इरादे से इंग्लैंड जा पहुँचता है। वहाँ चार साल रहकर यह तथ्य उसे स्पष्ट हो जाता है कि यहां रहना उसकी अपनी शर्तो पर ही हो सकता है। विदेश में अपमान सहकर जिस देश को देखने के लिए केवल दौड़कर आया था, उसका विकृत रुप देखकर इस सोच में पड़ जाता है कि भारत में लोग इस तरह क्यों व्यवहार कर रहे हैं? वापस विदेश जाकर अपमान और दूसरे दर्जे की नागरिकता को झेलने में भी वह परेशानी महसूस करता है। इस तरह वह दो देश और दो संस्कृतियों के बीच पिसता रहता है।

भौतिकता की तीखी चमक-दमक से आकृष्ट होकर इंग्लैंड या अमेरिका जाकर वहाँ की तथाकथित सुविधाओं को भोगना आम भारतीय की ललक होती है। लेकिन बिलकुल नये परिवेश में आते ही उन्हें संस्कृतियों से समझौता करना पड़ता है। प्रवास में रहनेवाले हमेशा भयावह, संक्रामक और खून सर्द कर देनेवाले आतंक से घिरे रहते हैं। उनके बीच यदि एक ओर रंग और नस्लभेद से उपजा आतंक है तो दूसरी और भारत लौटकर बेरोज़गारी का आतंक है। इन दोनों में चुनाव करते समय अधिकांश प्रवासी विदेशों में रहना चाहते हैं क्योंकि इसमें उन्हें आर्थिक सुरक्षा दिखायी देती है। रंगीन लोगों पर होने वाले अत्याचारों से प्रशासन व्यवस्था भी मुँह फेर लेती है। कहीं से भी कोई उम्मीद न देखकर लोग हालात से समझौता कर लेता हैं। भारतीयों के

घरों के शीशे गोरे लोग तोड़ते रहते हैं। इसलिए भारतीयों ने खिड़की पर मोटा परदा डाल रखा है। जो पत्थर आते हैं उन्हें वे इकट्ठा करके पड़ोस के नाल में फेंक आते थे।

महेन्द्र भल्ला कृत 'दो देश और तीसरी उदासी' में केवल नामक पात्र कहते है कि इंग्लैंड़ के घर पर होते हुए भी वे एक तनाव लिए रहते थे - गोरों से भरे फुटपाथों, दूकानों और तमाम दूसरी जगहों पर, काम की जगहों पर -उनकी तरह-तरह की नफ़रत और अपमान का या अपने होने को ही नज़रअंदाज़ किये जाने का मुकाबला करने की तनाव में रहने केलिए बाध्य थे। अगोरों को देखते ही गोरों के मुँह से गालियों की भरमार बारिश होती थी। इसलिए अगोरों को उन्हें देखकर अनदेखा और उनकी गालियों को अनसुना करना पड़ता था। केवल की पत्नी, सुषमा को अपने मुँह में उस गर्म लावा जैसी थूक का एहसास कभी -कभी होता था जब तीन गोरे युवकों ने सरेआम उसके और उसकी माँ के मुँह पर थूका था। सुषमा के भाई, अनिल के अनुसार ब्रिटेन पराया देश है, अपना होनेवाला नहीं। गोरी सभ्यता दूसरों को-अगोरों को-स्वीकार नहीं कर सकती। शायद यह एक जन्मजात दोष है - जैनेटिक डिफ़ैक्ट है।

इस उपन्यास में डॉक्टर मेहता नामक पात्र द्वारा लिखे लेख में प्रवासी भारतीयों के ड़र और दब्बूपन पर तीक्ष्ण आलोचना करते हुए यह विचार प्रकट किया गया है कि विदेशों में भारतवंशी कायर बनकर

जी रहे हैं। जो लोग अपने बारे में खुद सोच नहीं सकते और दूसरों का नकल करते हैं, दूसरों पर निर्भर रहते हैं- वे कायर ही हो सकते हैं। यह बात भारतीयों को विदेशों में देखकर एकदम ज़ाहिर हो जाती है। इस रोग का निदान अपने बूते पर सोचना ही हो सकता है, अपनी क्षमताओं को पहचानना ही हो सकता है। उनके अनुसार, भारतीय प्रवासीयों का असली रोग यही है कि उन्हें पता है क्या करना है, उसकी बात भी करेंगे लेकिन ऐसा नहीं करेंगे । भारतीय प्रवासी वही करेंगे जिसकी हवा है, जिसका फैशन है और जो बाकी लोग कर रहे हैं- यही असली कायरता है। पश्चिम से ज़रुर कुछ लेना चाहिए लेकिन अपने को गँवाकर और भुलाकर नहीं, अपने को बुद्धु बनाकर नहीं। जब तक भारतीय प्रवासी खुद नहीं सोचेंगे और उसपर अमन नहीं करेंगे तब तक विदशों में भारतीय , भयंकर रुप से कायर रहेंगे।

प्रवासी भारतीय ड़र और दब्बूपन में दम घुड़कर जीने के लिए बाध्य हो जाते हैं। सन् 2009 में ऑस्ट्रेलिया में भारतवंशीय विद्यार्थियों पर हो रहे वंशीय आक्रमणों की लंबी श्रृंखला नस्लवाद और रंगभेद का ताज़ा उदाहरण हैं। इन सबके कारण प्रवासी भारतीय हृदय और मस्तिष्क के बीच बँटकर रह जाता है।

सॉँस्कृतिक टकराहट और प्रवासी भारतीय

पश्चिम जानेवाला प्रत्येक भारतीय अपने अंदर एक 'लघुभारत' बचाकर रखना चाहता है। उसके लिए भारत को बचाकर रखने का

मतलब है अपनी रुढ़ियों और संस्कारों सहित अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक चेतना को अपने अंदर बचाकर रखना। लेकिन इन भारतीयों के सामने असली संकट तब पैदा होता है जब इनके बच्चे बड़े होते हैं जो पाश्चात्य संस्कृति में ही पले-बढ़े हैं जिनके खून में तो भारत है पर परिवेश में पश्चिम। इस तरह घर -घर में 'सांस्कृतिक द्वन्द्व' का जन्म होता है।

रवीन्द्र कालिया कृत 'ए.बी.सी.डी.' उपन्यास में पश्चिम में रह रहे प्रवासी भारतीयों के सांस्कृतिक संकट का वर्णन है। उपन्यास में एक ओर भारतीय संस्कृति में पले-बढ़े शील और हरदयाल हैं तो दूसरी ओर अमेरिकी संस्कृति में पली -बढ़ी उनकी संतानें , शीनी और नेहा हैं। यह युवा लोग भारतीय संस्कृति के बारे में संशयग्रस्त हैं और इसके साथ तालमेल नहीं बिठा पाते हैं। ये द्वन्द्व पीढ़ियों के बीच का द्वन्द्व न होकर दो भिन्न संस्कृतियों या जीवनमूल्यों के बीच का द्वन्द्व है।

दूसरों के बीच फँसते वक़्त अपनी खासियत पहचानने में काबिल बन जाने के कारण प्रवासी भारतीय अपनी संस्कृति को कायम रखने के लिए हर कदम पर कोशिश करते हैं। अमेरिका, यूरोप आदि पाश्चात्य देशों में रहनेवाले भारतीय अपने औलादों के भविष्य के प्रति बहुत चिन्तित हैं। पीढ़ियों के बीच में पैदा होनेवाला यह साँस्कृतिक दरार, प्रवासी भारतीयों की जिंदगी में मानसिक द्वन्द्व की वजह बनता है।

रवीन्द्र कालिया के उपन्यास, 'ए.बी.सी.डी.' में शील हमेशा अपनी बेटियों को हिन्दुस्तानी विचारों और जीवन-शैलियों के बारे में समझाती रहती। लेकिन शीनी और नेहा के लिए यह पचनेवाली बात नहीं थी। भारत के बारे में बच्चों के विचार सुनकर शील बहुत दुखी होती थी। शीनी के अनुसार "दलितों , अल्पसंख्यकों और अपनी बहुओं को ज़िंदा जलानेवाली देश कैसे महनीय देश बन जाऐंगे?"[1] शील हमेशा अपनी बच्चियों के कौमार्य की रक्षा को लेकर बहुत चिन्तित थी। शीनी, माँ के इस विचार को लेकर कृद्ध थी। पाश्चात्य संस्कृति में कौमार्य एक बोझ था जिससे जल्द-से-जल्द लड़कियाँ छुटकारा पा लेती थीं। नेहा की गोरी सहेली, एस्टैला की राय में हिन्दुस्तानी लड़कियाँ उसी तरह वर्जेनिटी को चिपकाये घूमती हैं जैसे बंदरिया मरे हुए बच्चे को। एक दिन, शीनी गोरे युवक के साथ डेट पर चली गयी तो माँ - बाप स्तब्ध रह गये। शीनी ने पहले ही चेतावली दे रखी थी कि अगर कोई भी उस पर हाथ उठायेगी तो पुलिस को खबर कर देगी।

प्रवासी भारतीय कठिन परिश्रम करके अपने बच्चों को विदेशों में जमाने में सफल हो जाते हैं। लेकिन भारतीय प्रवासियों की युवा-पीढ़ी बोलचाल, रीति-रिवाज़ और रहन-सहन में सौ प्रतिशत पाश्चात्य बन गयी। उनकी त्वचा का रंग ही उनके भारतीय होने की गवाही देता है। युवा पीढ़ी अपने भारतीय नाम तक बदलना चाहती हैं। बच्चे, माँ

---

1. रवीन्द्र कालिया - 'ए.बी.सी.डी.' पृ. सं:14

को तिरस्कृत करने लगे हैं कि 'तुम काली हो, गंदी हो। हम नहीं उतारेंगे जूते, कोई अमेरिकन जूते उतारकर घर में रहता है? हम नहीं खाएँगे यह पीले रंग की दाल, हमें चाहिए पीत्सा, हैमबर्गर, हौड-डौग।' भारतीय अस्मिता पर यह नया संकट है जो प्रवासी भारतीयों के जीवन में गहराता जा रहा है।

विदेशों में रहने केलिए अपने रवैया को बदलने केलिए भारतीय प्रवासी अभिशप्त होते हैं क्योंकि भारतीय अपने नैतिक मूल्यों को विदेशी समाज पर थोप नहीं सकते। प्रवासी भारतीय हमेशा विदेश और स्वदेश के बीच उलझते रहते हैं। रवीन्द्र कालिया के 'ए.बी.सी.डी.' के हरदयाल का वाक्य हैं "कई बार सोचता हूँ कि कुएँ में मेंढ़क की तरह पड़े रहे तो पागल हो जाएँगे। यहाँ के तौर - तरीके रास नहीं आते। हम लोग न वहाँ के रहे न यहाँ के।"[1]

भारत से दूर रहकर वापस आने पर प्रवासी भारतीय अजनबीपन से गुज़र जाते है। अपने प्रवास के बाद देश व घर के वातावरण में आये बदलावों से समझौता न कर पाने के कारण वे लोग अपने ही देश में स्वयं को अजनबी महसूस करता है। रवीन्द्र कालिया अपने उपन्यास 'ए.बी.सी.डी.' के पात्र हरदयाल के माद्यम से यह बात समझाते हैं की "आदमी जहाँ रहता है वहीं उसकी जड़ें विस्तार पाने लगती हैं। पंजाब जाता हूँ तो वहाँ अपने को अजनबी पाता हूँ। जो पंजाब में छोड़कर

---

1. रवीन्द्र कालिया - 'ए.बी.सी.डी.' पृ. सं: 77

आया था, वहाँ जाकर उसे ही ढूँढ़ता रहता हूँ। अब न वह पंजाब है और न वे लोग-सब मरमुर गये। लोग अपनी जड़ों की बात करते हैं। मुझे अपनी जड़ों के बारे में सोचकर दहशत होती है। वहाँ की स्मृतियां यहाँ से देखने पर सुहानी लगती है, वहाँ जाकर ड़रावनी।"[1]

अमेरिका, कनाडा आदि देशों के नागरिक बनने केलिए भारतीयों को बहुत दिक्कतों झेलने के बाबजूद वे कभी भी मन से उस देश को स्वीकार नहीं करते। बुज़ुर्ग प्रवासी हमेशा अपने को कोसती रहते हैं कि पिछले जन्म में किये पापों के दण्ड भुगतने के लिए ही उन्हें ऋषियों-मुनियों की पवित्र धरती छोड़कर इस जनम में विदेश आना पड़ा।

'ए.बी.सी.डी.' का फुल फार्म है 'अमेरिका बार्न कन्फ्यूज्ड देसी।' इस उपन्यास के ज़रिए रवीन्द्र कालिया यह ज़ाहिर करते हैं कि भारतीयों के जो बच्चे विदेशों में पैदा होते हैं, वे कन्फ्यूज़्ड हैं। माता-पिता के संस्कार और पाश्चात्य संस्कार के बीच में वे असमंजस में फँस जाते हैं। प्रवासी भारतीय अपनी संतानों के बारे में सदा चिन्तित होकर एक प्रकार से घुटन अनुभव कर रहे हैं। वे मानसिक द्वन्द्व के शिकार बन जाते हैं। माता-पिता और बच्चों के मानसिक विचारों में बदलाव लाने से यह संस्कृति की टकराहट अपने आप समाप्त हो जाएगी।

---

1. रवीन्द्र कालिया - 'ए.बी.सी.डी.' पृ. सं: 77

प्रवासी भारतीय और रिश्ते - नाते की शिथिलता।

भारतीय और पाश्चात्य संस्कारों से उत्पन्न अंतर्द्वन्द्व से ग्रस्त सामान्य व्यक्ति तिल-तिल टूटने लगता है। भौतिकता की इस अंधी बदहवास दौड़ में व्यक्ति का मनुष्यत्व कहीं खो जाता है। प्रवासी भारतीयों में अधिकांश दो संस्कृतियों के बीच रहने वाले तनावों और विसंगतियों को लेकर जी रहे है। जो लोग बेहतर भौतिक जीवन की आस में विदेशों में रह रहे हैं वे कामयाबी के मधुर स्वप्नों में खोकर अपने पारिवारिक रिश्ते - नाते तक भूल जाते हैं।

भारतीय समाज में कुछ ऐसे परिवारिक रिश्ते हैं जिनका सम्मान वे सदियों से करते आये हैं। वास्तव में, ये संबंध ही परिवार की एकता और विश्वास का आधार है। लेकिन, विदेश जाते ही अधिकांश लोग अपने इन पवित्र रिश्तों के ढाँचों से बाहर निकल जाते हैं और सभी रिश्ते - नाते को केवल अपने लाभ की दृष्टि से देखना शुरु करते हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में प्रवासी भारतीयों के रिश्ते-नाते में आयी शिथिलता का मार्मिक वर्णन है जिसके द्वारा सभी संबंधों को अपनी सुविधा के लिए इस्तेमाल करनेवाले और रिश्तों की शिथिलता से परेशान कई पात्रों से हमारा साक्षात्कार होता है।

उषा प्रियंवदा कृत 'शेषयात्रा' उपन्यास में अनु नामक प्रमुख पात्र डॉ.प्रणव कुमार की परिणीता बनकर अमेरिका पहुँचती है। प्रणव ने अनु से इसमिए शादी की कि वह एक बेवकूफ़ लड़की चाहता था। प्रणव

घर,गाड़ी, प्रैक्टिस सभी में 'नंबर वन' रहने की ललक को पूरा करने में जुटा रहता है। पराये देश में अकेलापन से गुज़र रही अनु को अक्सर लगता है कि उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। प्रणव, अमेरिकी बनिया-संस्कृति की उपज है और वह जल्द ही शादी जैसे एक पवित्र संबन्ध को टुकराकर किसी और के साथ चला जाता है। यह सदमा बर्दाश्त न कर पाने के कारण अनु पागल हो जाती है। उन्हें लगा कि वह सहचरी और जीवन-संगिनी थी मगर सोलमेट नहीं। प्रणव से मिले तलाक़ का सम्मन स्वीकार करके वह अमेरिका में नई ज़िंदगी शुरु कर देती है। घोर परिश्रम करके अनु, ज़िंदगी में आगे बढ़ जाती है और इस बीच प्रणव के संबंधें बदल रहे थे। दस साल बाद कैन्सर से पीड़ित प्रणव की मुलाकात अनु से होती है। दूसरे वैवाहिक जीवन के सफल बंधन में बँधी अनु को देखकर प्रणव पचताता है। उसे लगा कि पति - पत्नी का रिश्ता ही सबसे महत्वपूर्ण है।

सुषम बेदी के उपन्यास 'हवन' के प्रमुख पात्र गुड्डो के इंजिनीयर पति की असमय मृत्यु हो जाती है। उसकी छोटी बहन, पिंकी जो अमेरिका में 'सैटल' है, गुड्डी को वहाँ की चमक - दमक का प्रलोभन देकर उसे वहाँ बुलाती है। परिवार से आये तमाम विरोधों के बावजूद गुड्डो अपनी बेटियों को हॉस्टल में दाखिल करके अपने छोटे बेटे के साथ अमेरिका चली जाती है। लेकिन जिस रंगीन दुनिया की खोज में गुड्डो वहाँ आयी, वह तो उसे मिला नहीं। उसे मालूम हुआ कि यहाँ

रहने के लिए मनुष्य को अपनी आत्मा तक बेचनी पड़ती है। पाश्चात्य सोच यानी हर चीज़ को आर्थिक दृष्टि से देखने का नज़रिया गुड्डो - पिंकी के खून-संबंध के बीच भी दूरी ला देते हैं।

हर हिन्दुस्तानी विदेश- रुपी एक बहुत बड़े बाज़ार में एक व्यापारी है। वे अपनी प्रतिभा, ज्ञान और अनुभव को लेकर आते हैं और खुद को नीलामी पर चढ़ा देता है। भौतिकता की अंधी दौड़ में मनुष्य का राग तत्व सोख जाता है और एक भारतीय मन चाहे-अनचाहे निरंतर उस राग-तत्व की खोज करता रहता है।

द्रोणवीर कोहली कृत 'नानी' उपन्यास अपने नाती-नातिन की देखभाल करने के लिए अमेरिका गये एक नाना-नानी पर केन्द्रित है। अपने बच्चों के साथ रहने के सुनहले सपने देखकर विदेश पहुँचे दीनदयाल और सरस्वति, हर बात पर ख़ामियाँ निकालने वाले बच्चों की रवैया से विह्वल हो जाते हैं। एक दिन ऐनक न लगाने के कारण सरस्वति को उनके दामाद, श्यामरतन 'अंधी' तक कह देता है। यह सुनकर सरस्वति स्तब्ध रह गयी। लेकिन उन्हें अधिक दुख तब हुआ जब अपनी बेटी भी पति के हाँ में हाँ मिला रही थी। एक दिन उनकी नातिन, तुला ने किसी चीज़ केलिए ज़िद की तो श्यामरतन तपाक् से बोला कि नाना-नानी के जाने के बाद इसकी खूब पिटाई होगी। यह सुनकर दीनदयाल को धक्का-सा लगा। उन्हें महसूस हुआ कि श्यामरतन यह कहना चाहता है कि नाना-नानी के कारण ही बच्चे बिगड़ रहे हैं।

अपने ऊपर हमेशा दोष ढूँढ़ते बच्चों से सरस्वति परेशान हो गयी। उनके अनुसार वह अपनी ड्यूटी करने आई है। इसलिए उनके हर दोष को 'नानी' नहीं 'नैनी' समझकर ही बरदाश्त कर ले। उनके अनुसार नानी की हैसियत एक 'ग्लोरीफाइड आया' की ही है।

भारत से दूर आकर अपने वच्चों के ख़ातिर रहनेवाले माँ-बाप के लिए विदेश एक 'मीठा जेल' है। दिन-भर कैदियों की तरह घर के भीतर बंद रहने के कारण वे जल्द ही वापस जाना चाहते हैं। उनकी तरह बहुत -से युवा पीढ़ी के लोग भी भारत जाना चाहते हैं, लेकिन अमेरिका में जो 'सिक्योरिटी ऑफ जॉब' है, वह भारत में न होने के कारण वहाँ रहने के लिए मज़बूर हो रहे हैं।

अमेरिका में बसे भारतीय मूल के बच्चे, भारत से चिढ़ जाते हैं। 'नानी' उपन्यास में सरस्वति से मिली एक महिला के वाक्यों से यह ज़ाहिर होता है कि वे लोग बीच -बीच में इंडिया चले जाते हैं। लेकिन उनके बच्चे तो भारत के नाम तक सुनना पसंद नहीं करते। अमेरिका के मीडिया ने भारत मुल्क को इतना पिछड़ा हुआ प्रचारित कर रखा है कि घर में इंडिया की बात छिड़ती है तो बच्चे नाक-भौं सिकोड़ने लग जाते हैं।

विदेश में जाकर बसने वाले भारतीय दंपतियाँ अपने कामधंधों में इतने डूब जाते हैं कि स्वदेश और स्वजनों से भी विमुख-से होते जाते हैं। मगर धनार्जन में दिन-रात खटते इन लोगों को जब संतानें होती

हैं तब चिंताएँ सताती हैं। नवजात शिशु को विदेशी नैनी की संदिग्ध दया-ममता पर या किसी डे-केयर में छोड़ने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं रहता। उस संदर्भ में स्वदेश के संबंधियों पर उनकी प्रीति जगती है। बुलाने पर माँ - बाप उनके पास दौड़ आते हैं। मगर शीघ्र ही माँ - बाप को महसूस होता है कि बेटा - बेटी की गिरस्ती में उनका रुतबा एक 'महिमान्वित नैनी' से अधिक नहीं है। विदेशी धरती पर अकेलापन, अपमान और संत्रास झेलने के कारण 'मीठे जेल' से छुटकारा पाने के लिए वे छटपटाते रहते हैं।

लोग सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा भौगोलिक कारणों से स्थान-परिवर्तन करते हैं तथा नयी जगह व्यवस्थित होने में मज़बूर होकर एक दोहरी ज़िदगी जीने के लिए विवश हो जाते हैं। इसके कारण उनके व्यक्तित्व में परिवर्तन आने लगता है तथा बेचैनी, तनाव, अलगाव, अस्थायीपन, व्यग्रता, अशांति, शारीरिक क्लेश, संकट आदि का अनुभव करने लगते हैं। संक्रमण के इसी दौर में वे अपने आपको दोनों समूहों में हाशिये पर खड़ा महसूस करते हैं। इस दौरान व्यक्ति का उस विशेष परिवेश में चरित्र बदल जाता है तथा विभिन्न प्रकार के अनुभवों से गुज़रने लगता है। परिणाम यह होता है कि अस्तित्व संघर्ष से वह बेचैन हो उठता है। उनके जीवन में एक प्रकार की शून्यता आ जाती है तथा वह अपने आप को रुग्ण, क्लांत और विवश महसूस करने लगता है।

चौथा अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास में भारत विभाजन से उत्पन्न विस्थापन।

भूमिका :

स्वाधीनता मिलने के साथ ही विभाजन के भीषण और भयानक दौर से भारतवासियों को गुज़रना पड़ा। दुःख - तकलीफ़ों, यातनाओं और संघर्षों का एक नया सिलसिला शुरु हुआ जिसका आज भी कोई अंत नज़र नहीं आ रहा। इस एक झटके ने सभ्यता और संस्कृति, राष्ट्र और क़ौम संबंधी अवधारणाओं में ऐसी तब्दीली ला दी कि लोग हतप्रभ-से देखते रह गये। आज भी भारतवासी उन प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाये हैं। भारत की वर्तमान सामाजिक , साँस्कृतिक और राजनीतिक हालत के कारणों की खोज में जब जुटते हैं तो पाते है कि उनकी जड़ें विभाजन की त्रासदी से होती हुई इतिहास में दूर तक फैली हुई हैं।

विभाजन, निःसंदेह इतिहास की एक बहुत बड़ी त्रासदी है। हिन्दी उपन्यासकरों ने इस त्रासदी के विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्त करके विभाजन के संकट का संवेदनात्मक तथा बौद्धिक दृष्टि को सामने लाने की कोशिश की है। विभाजन संबंधी उपन्यासों में ऊपर से निचली परतों तक धँसी हुई रंग - रेखाओं से दहला देनेवाले सन्नाटे और हाहाकार की तस्वीरें बार-बार उभरती हैं।

15 आगस्त 1947 को भारत का विभाजन हो गया। अमानवीय

कारनामों का न ख़त्म होनेवाला सिलसिला शुरु हो गया। विभाजन के ऐन वक़्त और बाद में जो नरसंहार हुआ, वह भारतीय इतिहास की एक करुण त्रासद घटना है। 1947 अगस्त से नवंबर के बीच जो साँप्रदायिक लड़ाई लड़ी गयी, उसमें कितने मारे गये, कितने घायल हुए इसका अंदाज़ा लगाना आसान नहीं है। साँप्रदायिकता के राक्षस ने दोनों जातियों को अपने जबड़ों में भींचकर लहुलुहान कर दिया। दंगों के कारण दहशत का जो वातावरण बना, उससे गहरा असुरक्षा-भाव पैदा होगया। मौत का ड़र गहराता गया और लोगों को अपनी जन्मभूमि छोड़कर भागने पर मजबूर होना पड़ा। बँटवारे से जो हिंसा और अराजकता फैली, विस्थापन की जो बहुमुखी आपदाएँ फूटीं उसने हिन्दू - मुसलमानों को और सिक्खों को वर्षों तक जकड़कर रखा। आज भी भारत उसके परिणामों को किसी न किसी रूप में भुगत रहा है।

यह दुर्घटना लाखों लोगों के स्थानान्तरण की समस्या से जुड़कर और भी भयावह हो उठी। विस्थापन से निपटने के लिए कोई समुचित योजना और व्यवस्था के अभाव में लोग बुरी हालत में फँस गये। अगर जनसंख्या की अदला- बदली योजना-बद्ध रुप में हुई होती तो विभाजन के बाद हुए रक्तपात को एक बड़ी हद तक रोका जा सकता था। व्यापक पैमाने पर हो रहे खून-खराबे और मानव विरोधी कारनामों के बावजूद भी दोनों पक्ष में ऐसे लोग थे जो जानते थे कि भौगोलिक रुप में सीमाएँ निर्धारित हो जाने से दिल नहीं बँट पाते। ऐसे संवेदनशील

व्यक्तियों ने ही संस्कृति को पूरी तरह मिटने से बचाए रखा।

इतिहास और साँस्कृतिक क्षेत्र में उत्पन्न उस बड़ी घटना से साहित्यकार प्रभावित हुए। साहित्य और इतिहास , साहित्य और संस्कृति के अंतः संबन्धों पर सर्जनात्मक लेखन की जो शुरुआत तब हुई, वह आज भी ज़ारी है। जिस टूटन की प्रक्रिया तब शुरु हुई, वह आज अधिक विकट और भयावह शक़्ल अख़्तियार कर चुकी है। विभाजन के दौर का अग्निकांड विभाजन के बाद जगह बदल-बदलकर सामने आ रहा है और साहित्य की विभिन्न विधाओं में अभिव्यक्त हो रहा है।

बँटवारे के कारण हुई विभीषिकाओं और दहशतों का दिल दहलानेवाले वर्णनों के साथ-साथ विभाजनोपरांत भारत में मुसलमानों की अवस्था तथा शरणार्थियों व मोहाजिरों की समस्याओं का भी दस्तावेज़ हैं समकालीन हिन्दी उपन्यास। विभाजन की थीम पर लिखे गए अधिकतर उपन्यासों में मानवीय करुणा की झलक मिलेगी। ये उपन्यास किसी एक सतह पर ठहरे हुए नहीं हैं, कई आयामों को अपने भीतर समेटे हुए हैं। कहीं यह परिवर्तित संबंधों और विघटित मूल्यों पर आधारित है तो कहीं विभाजन से निर्मित क्रूर मानसिकता का उद्घाटन करनेवाले उपन्यास हैं। कहीं ये उपन्यास अपनी ज़मीन, अपने वतन से उजड़े हुए लोगों की अंतर्वेदना से जुड़े है तो कहीं औरतों पर हुई घिनौनी वारदातों से जुड़े हुए हैं।

विभाजन की पृष्टभूमि।

शताब्दियों के मुस्लिम शासन ने उच्चता की एक ग्रन्थि उनमें बिठा दी थी और शासित हिन्दू समाज उससे मुक्ति की राह तलाश रहा था। अलगाव, अविश्वास और संशय ने दोनों के मन की धरती को खोद- खोदकर रख दिया और अंग्रेज़ों द्वारा फेंका गया विष-बीज पनपकर एक छतदार पेड़ बन गया।

भारत की आज़ादी से पूर्व तक एक विशेष तबके और विचारधारा के मुसलमान नेताओं ने आम भारतीय मुसलमान जनता को समझा दिया कि नया बननेवाला पाकिस्तान उनके सपनों का देश होगा। यह समझ, धर्म के नाम पर पैदा की गयी और मुसलमानों में यह ड़र पैदा किया गया कि बहुसंख्यक हिन्दू समाज, इस्लाम धर्म और संस्कृति के लिए ख़तरा बन जाएगी। परिणामस्वरूप, पाकिस्तान की घोषणा होते ही भारत से, विशेषकर बिहार और उत्तरप्रदेश से मुसलमानों का पश्चिमी-उत्तर पूर्वी पाकिस्तान के लिए प्रयाण आरंभ हो गया।

साधारण जनता भारत-पाक मुद्दों से अंजान भी। ज़मींदार लोगों के अनुसार आज़ादी मिलने के बाद हिन्दुस्तान में कांग्रेज़ ज़मींदारी समाप्त करेगी क्योंकि ज़मींदार ज़्यादा मुसलमान ही हैं। आम भारतीय मुसलमान पाकिस्तान जाना नहीं चाहते ये फिर भी लीग को मतदान देकर उसकी ताकत को बढ़ाने के पीछे ज़मींदारी जाने का भय था।

दरअसल, दुनिया के कोई भी दो धर्मावलंबी इतनी गहराई के साथ

इतने लंबे समय तक आत्मीय रिश्तों में नहीं जुड़े हैं जितने हिन्दू और मुसलमान। लेकिन कुछ राजनीतिज्ञों के चलते भौगोलिक अलगाव की यह त्रासदी भी इन्हीं दो धर्मावलंबियों के हिस्से में आयी थी। अब तक सबसे ज़्यादा खून भी इन्हीं देशों के बीच बहा है। 1947 के खूनी विभाजन से लेकर भारत-पाक के बीच हुई लड़ाईयों तथा दोनों के बीच हुए साँप्रदायिक दंगों तक भारतीय उपमहाद्वीप् की धरती खून से जितनी लाल हुई उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि ब्रिटिश सरकार ने यहाँ इनके बीच नफ़रत की जो बीज बोई है उसकी नामुराद फसल यहाँ कभी नहीं सूखेगी। बँटवारे के फलस्वरूप आज हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच एक-दूसरे की हर बात पर शक़, एक-दूसरे के हर काम में आपसी ड़र रह-रहकर बवंडर की तरह उठते हैं और दोनों देशों की सीमा के इस पार या उस पार तनाव फैलाते घूम जाते हैं।

विभाजन की त्रासदी

जो धर्मांध थे, वे निर्दोष व्यक्तियों के रक्त से होली खेलने में गर्व का अनुभव करते थे। छुरेबाज़ी, आग, लूटमार, हत्या और बलात्कार साधारण होगये थे। देखते-देखते हरे-भरे चहचहाते प्रदेश वीरान हो गये। गगनचुंबी अट्टालिकाएं राख के ढेर में परिवर्तित हो गयीं। उस धधकती आग में निर्दोष नारियों और भोले-भाले बच्चों को इस तरह फेंकते थे जैसे कोई नरमेध यज्ञ में आहुति डाली जाती हो। कलकत्ता, नोआखाली, बिहार, पंजाब, दिल्ली और सीमाप्रांत एक के बाद एक, सब

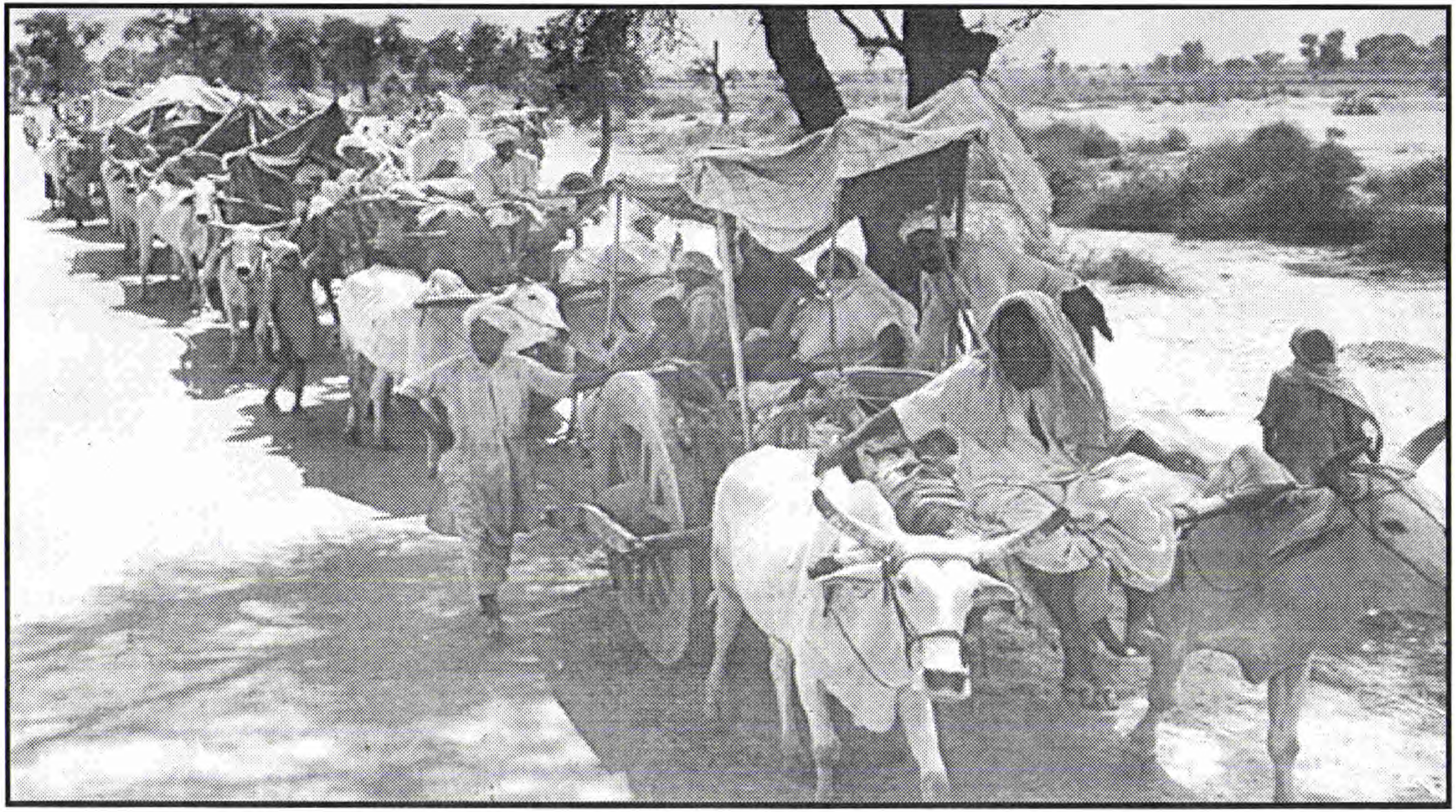

विस्थापितों का काफ़िला

इस भयानक पैशाचिकता का शिकार होते चले गये।

विभाजन के कारण पाकिस्तान की ओर हुए पलायन में युवा पीढ़ी ने अधिक उत्साह दिखाया और अधिकतर मुसलमान युवक पाकिस्तान चले गये। इस सामूहिक प्रयाण से मुस्लिम समाज में अनेक समस्याएँ पैदा हुईं। गाँवों की बुढ़ाती पीढ़ी असहाय और विपन्न हो गयी, जवान होती लड़कियों के लिए दूल्हे मिलना मुश्किल हो गया और बहुत-सी शादियाँ टूट गयीं।

एक ही दिन में हमें आज़ादी मिली और देश भी विभाजित हो गया। संवैधानिक तरीके से एक देश को फाड़कर उसके अंदर से ही उसके दूसरे प्रतिद्वन्द्वी देश को जन्म दे दिया गया। आज़ादी और विभाजन का फन्दा गर्दनों के गिर्द कसने के कारण साँस लेना भी मुश्किल हो गया। यह विभाजन, भारतीय अंतश्चेतना में ठहरा हुआ एक ऐसा तीर है जो चूँकि जिगर के पार नहीं हुआ था इसलिए हमें आज भी कसक और कसमसाहट दे जाता है। हिन्दू- मुसलमानों की पृथक जीवन पद्धति, पृथक धर्म, पृथक परंपराओं को, उनकी सभ्यता मूलक आधारों और पैमानों को अक्सर विभाजन का कारण माना जाता है जबकि वास्तव में विभाजन, विस्तार पर खेली जा रही एक बाज़ी थी जिसमें मोहरों की जगह करोड़ों व्यक्तियों के जीवन दाँव पर लगे और नष्ट हो गये।

अंग्रेज़ों की 'फूट डालो राज करो' नीति ने दोनों जातियों को

मजहब के नाम पर मरने-जलने को विवश कर दिया। इस नीति का दहशती नतीजा यह है कि गरिमामयी भारतीय संस्कृति की छत्रछाया में पल्लवित-पुष्पित दोनों जातियाँ पशुता के स्तर पर उतर आयीं।

समकालीन हिन्दी उपन्यास में विभाजन की विभीषिकाएं।

हिन्दुस्तान की मिट्टी में शताब्दियों से हिन्दुओं और मुसलमानों का जीवन पलता आया था। परन्तु इस माँ-मिट्ठी से उनकी जुदाई बहुत ही व्यथापूर्ण और घृणित रूप में हुई। मानवता को दानवता के कराल हाथों के बीच फँसना पड़ा। विभाजन से जुड़ी विभीषिकाओं को अपने उपन्यासों द्वारा प्रस्तुत करके मनुष्यता के भाल पर अंकित हुए कलंक की अमिट रेखा को दर्शाने में समकालीन उपन्यासकार सफल हुए।

वर्षों से हिल-मिलकर साथ रहनेवाले मनुष्यों को धर्म और राजनीति के गलत संदर्भ में किस तरह बाँट देते हैं, किस तरह मानवता की लाश पर पाशविकता अट्ठहास करती है, यह यशपाल कृत 'झूठा सच' उपन्यास का केन्द्र कथ्य है। इसमें पाकिस्तान बनने से उत्पन्न हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, दंगे एवं जन-निष्क्रमण से जुड़ी बहशीपन, बर्बादी और नारी-उत्पीड़न की कथा है। यह उपन्यास, एक ऐसा महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है जो सदियों तक आनेवाली पीढ़ी को लाखों की लाशों पर खड़ी की गयी पाकिस्तान की भव्य इमारत के दर्शन कराकर आँसू बहाने के लिए मजबूर करता है। इसमें कहीं लाशें पड़ी हैं जिनमें गिद्द मंडरा

रहे हैं, कहीं असह्य बोझ से लदी गाड़ियाँ हैं, कहीं साँप्रदायिक नारों की गूँज है तो कहीं आग की लपटें, कहीं उजड़ी जनता की पुकारें हैं तो कहीं अपमानित नारियों की चित्कार है। भारतीय विभाजन की वेदना का औपन्यासिक महाकाव्य है 'झूठा सच'।

लाखों की तादाद में लोग अपने वतन से विस्थापित होकर पराए देश की ओर जाते वक्त घटित रक्त-रंजित, अमानवीय और क्रूर इतिहास उपन्यास के प्रथम खण्ड 'वतन और देश' का मुख्य कथ्य है। लाहैार के भोलापाँधे की गली के एक हिन्दू मध्यवर्गीय परिवार को केन्द्र में रखकर उसके माध्यम से विभाजन का पूरा अख्यान प्रस्तुत हुआ है।

गुलाई 1947 के पहले सप्ताह में यह लगने लगा कि लाहौर, पाकिस्तान में जा सकता है। विस्थापितों के जत्थे लाहौर आने लगे। हिंसा और साँप्रदायिक उन्माद की उग्र होती आँधी में लाहौर में आतंक-सा छा जाता है। इसी बीच, कांग्रेज़ ने विभाजन सिद्धांत स्वीकार कर लिया और पंजाब को बाँटने का निर्णय लिया। मुस्लिम लीग ने भी यह शर्त स्वीकार कर ली। पंजाब के लगभग बीचोंबीच होने के कारण लाहौर पर कांग्रेज़ और लीग का दावा था।

यशपाल कृत 'झूठा सच' उपन्यास के मिर्ज़ा नामक पात्र के अनुसार, लोगों को धर्म के आधार पर अपनी पुश्तैनी जगहों से अलग करना जिस्म के माँस को हड्डियों से अलग करने के समान है। रेडक्लिफ-कमेटी ने भारत-पाक सीमा निश्चित कर दी, लेकिन लाहौर

तर्क का विषय बना रहा। पूरे लाहौर में दंगे फूट पड़े जिसमें इस उपन्यास के पात्र, जयदेव पुरी और उसकी बहन, तारा का जीवन तहस-नहस हो गया। इन लोगों के बयान से विभाजन से उत्पन्न विभीषिकाओं से जुड़े क्रूर और नृशंस दृश्य पाठकों के सामने खुलते हैं।

तारा को ससुराल से गुंडे उठाकर ले जाने के कारण और जयदेव पुरी परिवार से दूर होने के कारण परिवारवालों से बिछुड़ गये। लाहौर से माँ-बाप को ले आने के लिए पुरी द्वारा की गयी यात्रा के ज़रिए विभीषिकाएं सामने आ जाती हैं।

विस्थापित हो रही आबादी से रेलगाड़ियाँ लबालब भरी हुई थी। प्लाटफॉर्म पर खड़ी गाड़ी के भीतर घुस जाने के लिए लोग इतने आतुर और आतंकित थी कि उसी गाड़ी में न चढ़ जाने से वे निश्चय ही मृत्यु के मुँह में चले जाएँगे। चीखों-चिल्लाहटों और रोने की आवाज़ों से सारे स्टेशन गूँज रहे थे। लोग गाड़ियों की ढलवाँ छतों पर भी बैठे हुए थे। पुरी को पता चल गया कि शाहदरा स्टेशन पर एक हज़ार से अधिक लोगों की हत्या कर के रेलगाड़ी, लाहौर की ओर भेज दी गयी। उसने सभी स्टेशनों के प्लाटफॉर्म पर सैकड़ों मुसलमानों को गाड़ी की प्रतीक्षा करते हुए देखा। सरहिन्द स्टेशन पर हुए मार-कांड के कारण फ़र्श लाल-काला हो गया था और चारों ओर लाशें बिखरी पड़ी भी। वहाँ से कुछ आगे निकलते ही पुरी की गाड़ी पर आक्रमण किया गया।लोग यात्रियों को खींचकर नीचे गिराने लगे। भय से रंभाती एक बुढ़िया के

खुले मुँह और गले को एक बर्छे से फ़ाड़ डाला गया। प्राणों की भिक्षा माँगकर एक नौजवान के घटने पकड़कर लेटे मुसलमानों की पसलियों के नीचे तलवार धंसकर उठ गयी। क्षण-भर में आधी गाड़ी ख़ाली हो गई और पुरी की आँखों के सामने अंधेरा छा गया। फिरोज़पुर स्टेशन पर 4-5 जाटों के गिरफ़त में आतंक से सहमे हुये दो मुसलमान लड़कियों को देखकर पुरी का दिल भर आया। उन जाटों के हाथों में खून से सने बर्छे थे। स्त्रियों के अंगच्छेद करने और उन्हें नंगी करके जुलूस निकालने की खबरें सुनकर उनका मस्तिष्क जड़-सा हो गया। रास्ते में एक लड़की को भरी भीड़ के सामने निर्वस्त्र करके उसे सरेआम नीलाम करने के दृश्य से पुरी आतंकित हो जाता है। उन्हें लगा कि भारत विभाजन से स्त्रीजाति ही सबसे करुण और दयनीय बन गयी। विभाजन के ख़्याल-मात्र से उत्तेजित लोग, स्त्री की अस्मत को चीरकर फाड़ डालने में गर्व का अनुभव करते थे।

'झूठा सच' उपन्यास के प्रथम भाग 'वतन और देश' का अंत ट्रक ड्राइवर के इन मार्मिक शब्दों से होता है कि "रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बंदों ने अपने वहम और ज़ुल्म से उसे दो कर दिया।"[1]

विभाजन, उपमहाद्वीप की सबसे बड़ी ट्रेजेडी थी। हड़बड़ी में जब से इसे पेंसिल की नोंक से काट डाला गया तब से लेकर समकालीन लेखन तक की यात्रा में आज़ादी की यह रक्तरंजित लथेड़ बराबर

---

1. यशपाल - 'झूठा सच', पृ. सं: 539

विस्थापित आबादी से भरी रेलगाड़ी

उपन्यासों का विषय बना। द्रोणवीर कोहली कृत 'वाह कैंप' एक ऐसी औपन्यासिक कृति है जो बँटवारे से उत्पन्न कलंक के कोलाहल को तेजस्विता और निजता के साथ प्रस्तुत करती है। यह एक अनुभवजन्य रचना है जिसे लेखक ने पचास बरस तक झेलने के बाद क़लमबंद किया है। इसका कथाधार तक्षशिला की प्राचीन नगरी और सिक्खों के पवित्र धार्मिक-स्थल पंजा साहब के बीच 'वाह' नामक गाँव में स्थित रिफ्यूजी कैंप है जो देश-विभाजन के वक़्त पश्चिमोत्तर भारत का सबसे बड़ा शरणार्थी शिविर था। विस्थापन के दैत्य प्रहारों के मध्य एक भविष्यहीन ज़िंदगी जीने को अभिशप्त उत्पीड़ितों की लथपथ ज़िंदगी का प्रतीकात्मक दस्तावेज़ है 'वाह कैंप'। उपन्यास का कथानक एक किशोर केन्द्रित है जो कच्ची उम्र में ही परिस्थिति और परिवेश के झंझावतों से जूझकर अपनी राह तय करता चलता है।

'वाह कैंप' में पहुँचे शरणार्थी रोज़ रेलगाड़ी की प्रतीक्षा करती रही। इसी बीच, गाँधीजी वहाँ पहुँचे। पिंडीघेब से मृतकों और घायलों से भरा ट्रक कैंप में आये और यह दृश्य देखकर गाँधीजी असहनीय वेदना से लरज उठा। डॉ. सुशीला नैयर, लोगों की परेशानियों से वाकिफ़ होकर राजनीतिक नेताओं को ख़त लिखकर कैंप की शोचनीय स्थिति समझाकर पर्याप्त रेलगाड़ियों की माँग की।

चारों तरफ़ से आ रहे आक्रमणों की ख़बर सुनकर लोग भयभीत हुए। एक गाँव में पहुँचे हमलावरों ने धर्मांतरण के लिए लोगों पर दबाव

डाला। बहुत ही निर्लज्जता से वे लड़कियों के चुनाव कर रहे थे। यह देखकर स्त्रियों ने स्नान करने के लिए इजाज़त माँगकर गुरुद्वारे के भीतर चली गयीं। दरवाज़ा बंद करके वे सब कुएँ में कूदकर आत्महत्या कर लीं। हर दिन हालात बिगड़ रही थी।

अंततः एक गाड़ी के आगमन की सूचना मिलकर कैंप में हड़कंप-सा मच गया। लोग, स्टेशन की तरफ़ भागने लगे। घंटों तक प्रतीक्षा के बाद गाड़ी आ गयी। उसमें सिर्फ एक सवारी डिब्बा था और बिना छतवाली वैगनें देखकर लोग हैरान हो गये। लोग सामान गाड़ी में भरने में कामयाब तो हुए लेकिन खुद चढ़ने से पहले ही गाड़ी चल पड़ी। कुछ लोग उस पर चढ़ गये और बाकी लोग अपने भाग्य को कोसते हुए कैंप वापस गये।

23 सितंबर 1947 को वाह कैंप से निकली गाड़ी को लेकर यह अफ़वाह फैल गयी कि शेखपुरा के पास उस पर आक्रमण हुआ। दूसरी गाड़ी न आने पर लोग परेशान हो गये। तलागंग से आनेवाली ट्रेन 'वाह कैंप' पहुँची। गाड़ी के खुले दरवाज़ों से रोते-चिल्लाते चेहरे दिखाई पड़े। घायल और मृतकों के खून से लथपथ शरीर को बाहर निकालने लगे। जहाँ गाड़ी आकर रुकी, वहाँ टपकते खून से ज़मीन लाल और माहौल गंधैला हो गया।

लोग कैंप की गंदगी और अभाव से पूरी तरह टूटकर राजनीतिक नेताओं को कोसते थे जिनकी नासमझी के कारण मुल्क का इस तरह

बँटवारा हुआ था। 'वाह कैंप' उपन्यास के पात्र, मनोहर अरोड़ा के अनुसार "नेताओं की जल्दबाज़ी की बदौलत इस देश का बँटवारा हुआ। नेता लोग आराम से कुर्सियाँ संभलकर बैठे हैं और साधारण लोग जो असली मानों में आज़ादी की कीमत चुकाई है, ड़र के माहौल में घर-बार छोड़कर रिफ्यूजी बने बैठे हैं"।[1]

'वाह कैंप' से चली दो गाड़ियों में चढ़ने की कोशिश में कई लोग बुरी तरह घायल हो चुके थे। मगर अगली गाड़ी आते ही लोग स्टेशन की तरफ़ भागने लगे। उपन्यास का पात्र, 'मैं' भी पिताजी और चाचा के साथ स्टेशन गये। जद्दोजहद कोशिश करके गाड़ी के अंदर घुसने के बाद उन्हें मालूम पड़ा कि वह अपने परिवार से अलग हो गया। आक्रमण होने के ड़र से लोगों ने दरवाज़े-खिड़कियों को बंद रखा जिसके कारण साँस लेना भी दूभर हो गया। लालामूसा स्टेशन पर जाकर पता चला कि आगे के कुछ डिब्बे गाड़ी से अलग हो गये। यात्रियों को दूसरी गाड़ी पर चढ़ना पड़ा।

उस वक़्त, पाकिस्तान जानेवाली एक गाड़ी भी वहाँ पहुँची। लोग डिब्बों में ठूँसकर बैठते थे और छत पर भी अनेक लोग थे। दोनों मुल्कों की ओर जानेवालों की हालत एक-जैसी थी। विभाजन को लेकर इतनी ज़्यादतियाँ होने पर भी साधारण जनता ने एक-दूसरे से घृणा नहीं की, वे लोग तो बस नए मुल्क में अपने भविष्य के प्रति चिंतित थे। भूख-

1. द्रोणवीर कोहली - 'वाह कैंप', पृ. सं: 203

प्यास से लोग परेशान होकर भी आक्रमणकारियों के ड़र से बाहर नहीं निकले। जिस डिब्बे में 'मैं' था उसमें से एक आदमी जान की बाज़ी लगाकर अपनी बीमार बच्ची के लिए एक बाल्टी पानी लाया। लेकिन एक भद्र महिला के पालतू कुत्ता उसे जूठा कर देता है। इसको लेकर बात बढ़ जाते वक़्त वह महिला कहती है कि प्यास लगने पर यही पानी पीने के लिए सब तैयार होंगे। उसने अपनी बच्चे की प्यास बुझाने के लिए वही पानी दिया, यह देखते ही बहुत से लोगों ने उस जूठे पानी से अपनी प्यास बुझायी।

जगह-जगह बर्छे, छुरा लेकर घूम रहे आक्रमणकारियों को देखकर लोग काँप गये। एक स्टेशन से इस उपन्यास का पात्र, आत्माराम चाचा ने कुऑ से पानी खींचा तो बाल्टी में खून निकला। बहुत-से लोगों की लाशों से कुऑ भरा हुआ था। अनेक मुशकिलों से गुज़रकर भारत - सीमा पर पहुँचकर 'मैं' को लगा कि दोनों मुल्कों में कोई अंतर नहीं। धरती एक-सी थी, रंग एक-सा था। वह भी शरणार्थियों- रूपी विशाल जनसमूह में घुल मिल गया।

भारत से जाने केलिए जो मुसलमान तैयार नहीं हुए, उन लोगों को शरणार्थियाँ धमका-फुसलाकर पाकिस्तान भेजने लगे। उनके घरों पर कब्ज़ा किया गया और जानेवालों पर आक्रमण भी हुए।

देश-विभाजन एक ऐसी राजनीतिक घटना साबित हुई जिसका भीषण परिणाम आम आदमी को भुगतना पड़ा, विशेषकर निम्न मध्यवर्गीय

लोगों को। राजनेताओं के वायदे झूठे साबित हुए तथा लोगों के सपने भंग हो गये। विभाजन का परिणाम बाहरी रूप में हिंसा, मारकाट, भीषण हत्याकांड एवं बलात्कार के रूप में निकला और आंतरिक रूप में नफ़रत, शंका, संदेह, धोखा, विद्वेष और अविश्वास के रूप में प्रकट हुआ।

'कठपुतली' उपन्यास द्वारा देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी देश-विभाजन से जुड़ी समस्याओं का वर्णन किया है। पाकिस्तान-निर्माण की बातें लोगों तक पहुँचने लगी। लेकिन साधारण लोग यही विश्वास करते थे कि उनको कहीं जाने की ज़रुरत नहीं पड़ेगी। सांप्रदायिक उन्माद की ज्वाला तेज़ी पकड़ने लगी। अंग्रेज़ों ने भारतवासियों को कठपुतलियों की तरह नचाया। कठपुतलियाँ एक दूसरे को ताक रही हैं जैसे सब दूसरों को ख़त्म करने पर आमादा हों। मुहब्बत का दरिया सूख रहा है, नफ़रत का दरिया जन्म ले रहा है। कुछ कठपुतलियों ने तो इशारों से नाचने से इन्कार कर दिया जैसे उन्होंने पर्दे की ओट से नचानेवालों के हाथ पहचान लिये हों। देखते ही देखते भारत के तेवर बिगड़ रहे हैं। बिहार और नोआखाली में हुए फ़सादों का बदला लाहौर में लेने के लिए कठपुतलियां तैयार हो गयीं। लौहार, जो कभी फैशन और अटक-मटक का शहर था, अब लाशों का शहर बनने जा रहा था। उपन्यास के पात्र, ज़ीनत के माँ-बाप अपने हिन्दू जामाद, सुनील के कारण परेशान थे। पुलिस की सहायता से उन लोगों ने बेटी-दामाद को अमृतसर पहुँचाया।

ज़ीनत ने कलयाणी नाम रखा और दोनों दिल्ली चले गये। देश की सीमा के दोनों पार जितना खून बहाया गया, इसकी कल्पना मात्र से सुनील व्याकुल हो उठा। 15 अगस्त 1947 के बाद दिल्ली में भी दंगे शुरु हो गये। आज़ादी तो मिल गई लेकिन इंसानियत खो गयी।

'कठपुतली' उपन्यास का तेज कौर नामक पात्र पाकिस्तान के लायलपुर से शुरु हुए सबसे बड़ी काफिले में शामिल थी। उन्होंने अपनी डायरी में विस्थापितों की हालत को सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर दिया। उनकी राय में, "यह काफ़िला इंसानियत का मीलों लंबा सरगम है जिसका एक सिरा अतीत की धुंधली परंपराओं को छू रहा है तो दूसरा भविष्य के आँचल को पा लेना चाहता है"।[1] ढोल की आवाज़ सुनकर लोग आक्रमण की आशंका से ड़र जाते थे। रात में पड़ाव डालकर लोगों में चावल और आटा बाँटता थे। काफ़िले में शामिल बहुत लोग बीच रास्ते में दम तोड़े लेकिन उनके साथी आगे चलते रहे। छत्तीस घंटे तक यह काफ़िला रावी के पुल से गुज़रते रहे। सिपाहियों ने साहस बढ़ाकर काफ़िलेवालों को जल्द ही भारत-सीमा की ओर ले चले। थके-सहमे लोग बेगुनाह और अभागे थे। उन्होंने अपने वतन छोड़कर देश में प्रवेश किया।

विभाजन का सर्वग्राही तूफ़ान अपने साथ रक्तपात, बलात्कार, आगजनी जैसी क्रूर अमानवीय घटनाओं को लेकर ही नहीं आया था,

---

1. देवेन्द्र सत्यार्थी - 'कठपुतली', पृ. सं: 203

लाखों लोगों को अपने जन्मस्थानों से विस्थापित कर उन्हें निरीह, दिशाहीन पत्तों की तरह बिखेर भी दिया गया था। उस आँधी का वेग कम होने पर मालूम पड़ा कि वे पत्ते अपने मूल केन्द्र से दूर अपने सगे-संबंधियों और साथियों से अलग होकर अजनबी भूमियों में अपने जीवन का नया आधार, नया अर्थ, नया भविष्य खोजने और रचने के लिए अभिशप्त बना दिये गये।

बलवंत सिंह कृत 'काले कोस' उपन्यास में पंजाव के बँटवारे की कहानी है। विभाजन, राष्ट्रीय आंदोलन की अंवाछित व विकृत परिणति थी। उस संघर्ष का न तो लक्ष्य था, न ही दिशा थी। देश स्वतः उस तरफ़ चला गया जिधर उसे जाना ही नहीं था। ऐसी स्वतंत्रता किसी के स्वप्न में भी नहीं थी। स्वतंत्र होने पर करोड़ों मनुष्य उन अधिकारों, सुविधाओं और स्वप्नों से भी वंचित हो गये जो स्वतंत्रता से पहले उन्हें गरिमापूर्ण और विश्वसनीय तरीके से सहज उपलब्ध था।

चारगाँव में हिन्दू-मुसलमान अत्यंत भाईचारे से रह रहे थे। एक लीगी कर्मचारी के बहकावे में आकर लोग एक दूसरे से घृणा करने लगे, हथियार इकट्ठे करने लगे। मियाँ दिल मुहब्बत राजनीतिक षड्यंत्र को पहचान लेते है और उनके आदेशानुसार मुसलमान अपने हिन्दू-सिक्ख भाईयों की सुरक्षा करने का निर्णय ले लेते हैं। गाँववाले, विरसा सिंह और सूरत सिंह के नेतृत्व में एकत्र होकर बाहरी आक्रमणों का सामना करते हैं। हिन्दू युनियन के सिक्ख सिपाहियों के साथ मेजर मनमोहन

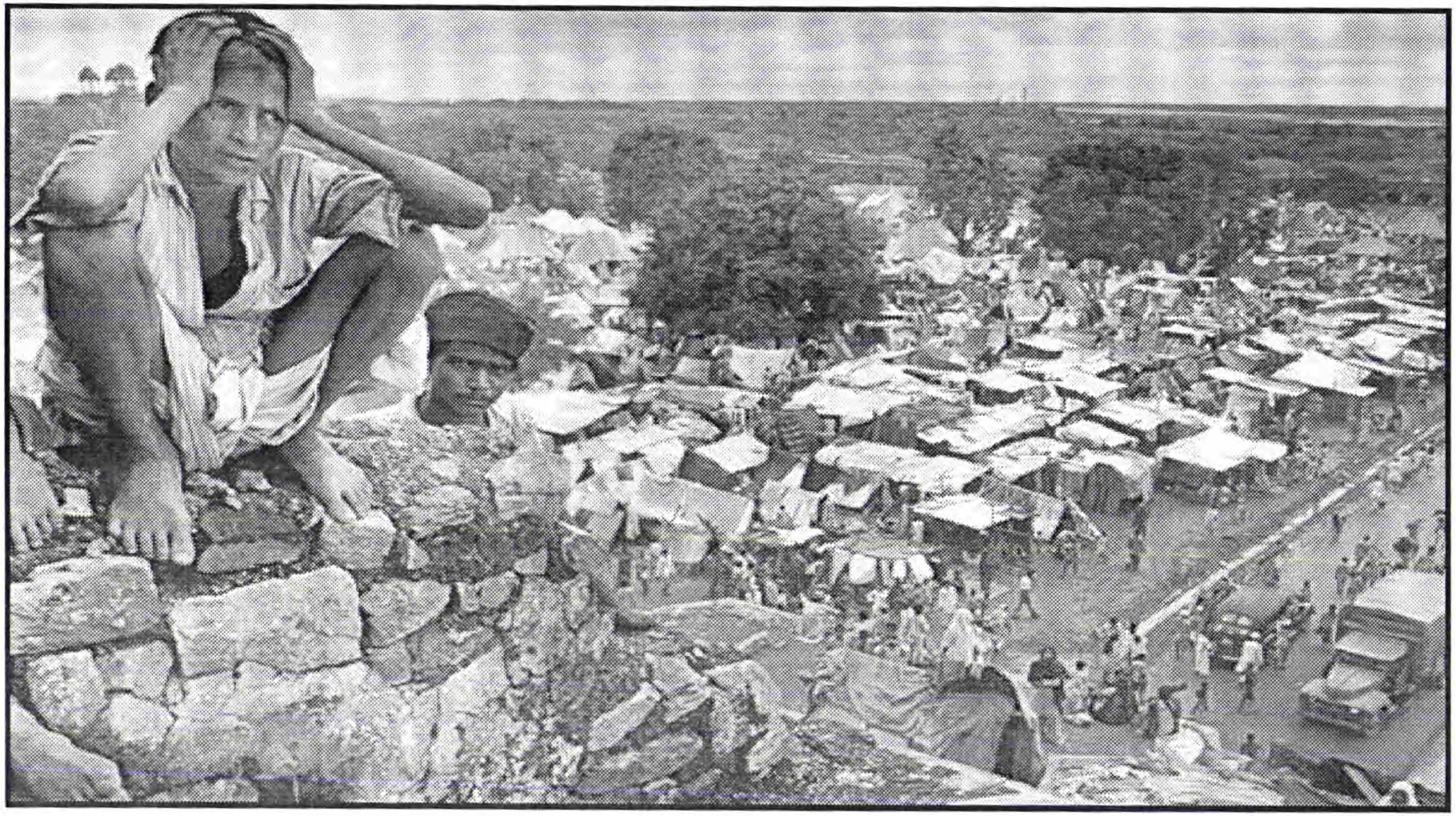

शरणार्थी शिविर का दृश्य

सिंह गाँव पहुँचकर हिन्दू-सिक्खों को कैंप ले जाने लगे तो चारगाँव में उदासी छा गयी। अपने भाईयों को विदा करते समय मुसलमान फूट-फूटकर रो रहे थे। शरणार्थी शिविर में नरमुण्डों का सागर हिलोरें ले रहा था। उस सागर में चारगाँव का काफ़िला भी एक बूँद के समान धुल मिल गया।

चौदहवाँ दिन तक प्रतीक्षा करने के बाद गाड़ी आयी तो लोग एक साथ उस पर टूट पड़े। पुरुष स्त्रियों और बच्चों को बेजान सामान की तरह डिब्बों में फेंक रहे थे। हर स्टेशन पर हथियारयुक्त मुसलमानों की भीड़ देखकर लोग काँप गये। शेखपुरा के पास गाड़ी रुकी और नारों की आवाज़ से सब परेशान हो गये, उन शब्दों में खून की प्यास थी। मशालों की लंबी पंक्ति देखकर गाड़ी से चिपके लोग भयभीत हो गये। हमलावरों के नज़दीक पहुँचने पर गाड़ी चलने गयी तो उन लोगों ने भालों से गाड़ी में लटके लोगों को नोंच लिया। लाहौर स्टेशन से उल्टी तरफ़ चलकर गाड़ी शेखपुरा के निकट एक श्टेशन में आकर रुक गयी। लोग तीव्र गर्मी और प्यास से बेहाल हो गये। नल तक जाकर पानी लेने से सब कतराये। एक जवान पानी भरने बाहर निकला तो स्टेशन में उपस्थित लोगों के छुरों का शिकार हो गया। गाड़ी में बैठे सिक्ख ने गोली से दो हमलावरों को मारा तो बाहर जमी भीड़ गाड़ी पर टूट पड़ी। पूरा डिब्बा लाशों से भर गया और जवान लड़कियों को उठाकर हमलावर चले गये जिसमें सूरतसिंह की बहन, गोबिन्दी भी शामिल थी।

बिरसा सिंह और परिवार कुछ मुसलमानों की सहायता से ट्रक में भारत की ओर निकले। बच्चों को अफ़ीम खिलाकर चुप किये गये और ख़तरा भाँपते ही लोग ट्रक के तख़्तों से सटकर बैठ जाते थे। रास्ते में मौजूद मुसलमानों की हाथों से फौजी वर्दी पहने मुसलमान ने ट्रक सवारियों को बचाकर सरहद तक पहुँचाया।

अमृतसर में विस्सा और सूरत सिंह पुनः मिले। उन दोनों ने मुसलमान विस्थापितों से भरी गाड़ी देखी जिनके अंदर लोग गर्मी, भूख, प्यास और प्राणों के भय से सहमे हुए बैठे थे। प्यास से बेहाल बच्चे को पानी देने के लिए सूरत सिंह डिब्बे के पास पहुँचते ही बाहर जमी भीड़ भयानक भूखे भेड़िये की तरह बेकाबू होकर गाड़ी पर चढ़ दिये। पलक छपकते ही गाड़ी में लाशों के अंबार लग गये।

विभाजन, उस खेल की तरह था जो निहायत लापरवाही, हल्केपन और गैरज़िम्मेदारी के साथ शुरू हुआ पर धीर-धीरे इसमें नये खिलाड़ी शामिल होते गये, नियम बनते गये, टोलियाँ बनती गयीं और अंत में किसी भी तरह से जीतना इस खेल में खिलाड़ियों का एकमात्र और अंतिम लक्ष्य रह गया।

गुरुचरण दास रचित 'कहानी एक परिवार की' उपन्यास विभाजन की त्रासदी और विषम परिस्थितियों की अद्‌भुत गाथा है। लायलपुर के मशहूर वकील, दीवानचंद और परिवार के इर्द-गिर्द चलनेवाली इस कथा में भारत विभाजन से उत्पन्न विस्थापन की त्रासदी के साथ

सांप्रदायिक जुनून और उसके तले बर्बाद होते लोगों की नियति का चित्रण है।

विभाजन की ख़बरें सुनकर दीवानचंद उर्फ बाऊजी बहुत चिंतित था। धर्म के आधार पर दो राष्ट्रों की स्थापना की एहमियत उनके विचार से परे थी। तारा की सहेली, अनीस हुसैन से इस विषय पर उनकी चर्चा भी हुई। अनीस के अनुसार, "ब्रिटिशराज में हिन्दुओं से ज़्यादा मुसलमानों को नुकसान हुआ। मुगल शासन के दौरान हम ज़मींदार थे, हमारे पास सत्ता थी। हमने इसका (ब्रिटिश का) विरोध किया। लेकिन हिन्दुओं ने जल्द ही अंग्रेज़ी सीख ली और नये तौर-तरीके अपना लिये तथा ब्रिटिश सरकार के महत्वपूर्ण पदों पर क़ाबिज रह गये। हम (मुसलमान) आपका अनुकरण करने में विफल रहे तथा असहाय बनकर रह गये। आज़ादी हमें चिंतित करती हैं क्योंकि लोकतांत्रिक सरकार में आप हमें बाहर कर देंगे। भारत में एक मुसलमान पर चार हिन्दू हैं। हम आज़ाद भारत में अपनी जीने की उम्मीद नहीं करते। हमारे बौद्धिक पिछड़ापन हमें कमज़ोर बनाता है। चुनावों में प्रतिनिधित्व प्रणाली में बहुसंखयकों का ही बोलबाला रहेगा। यही कारण है कि हम ड़रते हैं। यही कारण है कि हम अपना देश चाहते हैं"।[1]

सांप्रदायिकता की ज़हर लायलपुर में भी फैल गयी। एक दिन

---

1. गुरुचरण दास - 'कहानी एक परिवार की', पृ. सं: 80

हमले के लिए अपने घर पहुँचे मुसलमान युवकों को दीवानचंद ने चाय देकर स्वागत किया तो वे हतप्रभ हो गये। युवकों ने माफ़ी माँगते हुए बताया कि वे लोग मुल्ला के निर्देशानुसार ऐसे कर रहे हैं। मुल्ला कहते हैं कि अगर मुसलमान एक काफ़िर को मौत के घाट उतारते हैं तो उन्हें जन्नत में सात हूरें मिलती हैं। अधमरे मुसलमानों को लेकर एक रेलगाड़ी लायलपुर पहुँचने पर वहाँ आतंक फैल गया। बाऊजी भी परिस्थितियों से विवश होकर सपरिवार रेलवे स्टेशन की तरफ़ रवाना हो गये। रास्ते के हमलावरों से जान बचाकर स्टेशन पहुँचने पर पुलिस के नेतृत्व में चल रही गोलीबारी देखकर वहाँ से भाग जाते हैं। वे लोग भी बाहर से गुज़रे एक काफ़िले में तब्दील हो गये। मुस्लिम बलूच रेजिमेंट की सुरक्षा में आ रहे छह मील लंबे काफ़िले में बाऊजी के परिवार भी शामिल हो गये।

बाऊजी के मित्र, डॉ. देशराज ने जो काफ़िले में शामिल था अपनी डायरी में विस्थापितों के अनुभव को दर्ज कर दिया। इसमें तरकाबाद के रेलवे क्रॉसिंग पर हुए आक्रमण का वर्णन इस प्रकार है - "करीब तीन-चौथाई काफ़िला रेलवे लाईन पार कर चुका था, अचानक गेट बंद कर दिया गया और हथियार-बंद मुसलमानों की भीड़ पीछे छूट गये काफ़िले पर टूट पड़ी। यह लूटपाट और मारकाट मचाने के लिए पूर्व नियेजित साजिश थी। उपद्रव शुरू होते ही लोग सब जगह भागने लगे, अनेकों को कुल्हाड़ी और गंडासों से काट डाला। औरतों को

निर्वस्त्र घुमाया गया। लड़कियों को जबरन उठा ले गये। बलूची सेना मूकदर्शक बनी सब देखती रही। पूरी सुबह हमला ज़ारी रहा, दोपहर तक मैदान में लाशें बिछ गईं। हमले में ज़िंदा बच गये लोगों से लाशें हटाकर ट्रकों में भरा और चिनाब नदी में ले जाकर फेंक दिया गया"।[1] जिलाधिकारी हमीद वहाँ पहुँचकर लोगों को खालसा कैंप में ले गया। उस रात, पुलीस ने उन पर हमला बोल दिया। वह सेना को उकसाने लगा कि काफ़िर को मारना ही जन्नत जाने के लिए सबसे वैध तरीका है। लोगों पर अंधाधुंध गोलियाँ चलाने लगे। कुछ लोग जान बचाने के लिए पास के कुएँ में छलाँग लगाने से डूब मेरे। शरणार्थियों की सुरक्षा के लिए हिन्दू गुरखा सैन्य को बुलाया गया।

बाऊजी के परिवार और डॉ. देशराज को हामिद, श्रीराम मिल्स लेकर गये, लेकिन उसी रात सिंध पुलिस आ गये और सब लोगों को मिल परिसर में बुलाया गया। जल्दी ही वहाँ लोगों के सोने और नक़्दी का ढेर लग गया। लड़कियों के साथ छेड़छाड़ किये पुलिस अधिकारी पर एक नौजवान ने वार किये और पुलिस ने फायरिंग शुरु कर दी। आगे की पंक्ति में खड़े लोग ज़मीन पर ढेर होते जा रहे थे और पीछे खड़े लोग अपने बेटियों की अस्मत बचाने के लिए उन्हें ज़हर देने लगे। बाऊजी के परिवार, एक बेटी की जान गँवाकर उस दुःख में आगे बढ़े और लाहौर की तरफ़ जानेवाले काफ़िले में जा मिले। पचास हज़ार से

---

1. गुरुचरण दास - 'कहानी एक परिवार की', पृ. सं: 116

ज़्यादा लोगों के उस काफ़िले में बहुत-सी औरतों ने बलात्कार से बचने के लिए तीन-तीन सलवार कमीज़ें पहन रखी थीं। कुछ औरतें जबरन अस्मत लूट जाने की स्थिति में पीने के लिए ज़हर की शीशियाँ लेकर चल रही थीं। सब लोग लगातार सर्तकता बरत रहे थे।

डॉ. देशराज ने रास्ते में हुई दो घटनाओं का अंकन भी किया। तहसील समुद्री के नहर पर बने पुल पर काफ़िले के आगे चल रहे दल पर आक्रमण हुआ। सैनिकों के विरोध के बावजूद भी करीब साठ लोग मारे गये और दर्जन लड़कियों की अस्मत लूटी गयी। कीमती सामानों की तलाश में कुछ महिलाओं को निर्वस्त्र कर दिया गया। कुछ लोग जान बचाने के लिए नहर में कूदे और डूब मरे। दूसरा हमला रेलगाड़ी से जुड़ा था। यह घटना लाहौर के पास शादरा और बादामीबाग़ स्टेशनों के बीच हुई। यह हमला पास घटित होने से काफ़िले में भी दहशत फैल गयी।

बाऊजी जिस काफ़िले में शामिल था उसके लोग वाघा बार्डर पहुँचे बाऊजी के अनुसार, "यदि माउंटबेटन मानवजाति के पाँचवें हिस्से की आबादी के मुक्तिदाता के भाव से अंधे न होते तो इस खूनखराबे को टाला जा सकता था। लोगों को समय देना था, यहाँ तक कि रेड़क्लिफ़ को भी समय दिया जाना चाहिए था। उसे हड़बड़ में यह काम करना पड़ा जिसके चलते एक शहर अपनी नदी से कट गया, एक गाँव अपने खेत-खलिहानों से कट गया और कारखाना अपने कच्चे माल

से कट गया"।[1]

14 अगस्त 1947, आधी रात को अंग्रेज़ी राज ख़त्म हो गया और भारत आज़ाद हो गया। उसी दिन, पाकिस्तान का नाम से एक नए राष्ट्र का जन्म हुआ जिसे पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल को अलग कर बनाया गया था। सर सिविल रेडक्लिफ़ नामक व्यक्ति ने पाँच सप्ताह में दोनों देशों की सरहद तय कर दी और नक़्शे पर बनी सीमा रेखा को 'रेडक्लिफ़ बाउंड्री' नाम दिया गया। 17 अगस्त को विभाजन की घोषणा की गई और असाधारण रूप से बड़ी संख्या में लोग सीमा के दोनों ओर स्थानांतरित हुए। लाखों लोग बेघर हो गए। अनुमान के मुताबिक़, दो करोड़ हिन्दुओं को जन्मस्थान छोड़ना पड़ा जबकि एक करोड़ अस्सी लाख मुसलमान, पाकिस्तान चले गये। आबादी के इतने बड़े स्थानांतरण में पाँच लाख लोगों ने जान गवाई। महिलाओं के बलात्कार व उनके उपहरण का बाईस हज़ार मामले प्रकाश में आये। बीस हज़ार लोगों को लापता घोषित किया गया।

कमलेश्वर ने अपने उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' में भारत विभाजन की समस्याओं को इस उम्मीद से प्रस्तुत किया कि भारत ही नहीं, दुनियाभर में एक के बाद दूसरे पाकिस्तान बनाने की लहू से लथपथ परंपरा अब ख़त्म हो। पाकिस्तान यहाँ एक प्रतीक है, वह एक देश नहीं साँप्रदायिक आधार पर बँटे मानवीय-इतिहास की त्रासद गाथा का

---

1. गुरुचरण दास - 'कहानी एक परिवार की', पृ. सं: 130

जीता-जागता रूप है।

भारत विभाजन हो गया और पंजाब से लेकर असम तक की नदियों का पानी खून से लाल हो गया। अधमरे और घायल लोग वहशत, दहशत और हैवानियत के शिकार होकर चीखने लगे। जब लोग खून के समंदर पार करते हुए भारत और पाकिस्तान की ओर भाग रहे थे तब 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास के पात्र, सलमा के माँ-बाप पाकिस्तान से किसी देश की ओर नहीं, अपनी मिट्ठी-भारत की ओर भाग रहे थे। सलमा की अब्बू कहते हैं कि "इस्लाम की नज़र से पाकिस्तान का बनना ही गुनाह है। क्योंकि इस्लाम नफ़रत नहीं सिखाता पर पाकिस्तान की बुनियाद नफ़रत पर रखी गई है"।[1] मुगल शासक औरंगसेब के समय से भारत के मुसलमान मानसिक रूप से विस्थापित बन गये। इसी मानसिकता ने उन लोगों को अपने ही मुल्क में अजनबी बना दिया। वही मानसिक विस्थापन लगभग दो सदियों के बाद विभाजन का कारण बना।

माउंटबेटन ने सिविल रेडक्लिफ़ नामक एक वकील के हाथों बंगाल और पंजाब का विभाजन करने का काम सौंपा था। एक महीने के अंदर एक देश की सीमा निर्धारित की गयी। केवल धरती के ही दो टुकड़े नहीं हुए, उन तमाम निरपराध लोगों के भी-जिनके लाश पूरे उत्तर भारत की धरती पर बिखर गये जिन्हें खाने के लिए संसार-भर के

1. कमलेश्वर - 'कितने पाकिस्तान', पृ. सं: 110

माँसभक्षी पक्षी और पशु भारत यात्रा पर आये थे। पाँच हज़ार वर्षों की सभ्यता को कुछ लकीरें खींचकर तोड़ दिया गया। आवाम को यही भी पता नहीं था कि सरहद कहाँ है लेकिन लाशें पड़ी ज़मीन बता रही थी कि देशों के सरहद कहाँ है।

'कितने पाकिस्तान' उपन्यास के सातवें अध्याय में चित्रित जेनिब नामक लड़की सरहद पार कर पाकिस्तान जाते समय परिवार से बिछुड़ गयी। अस्मत की रक्षा के लिए एक नौजवान के हाथों से बचकर भागते वक़्त उसकी मुलाकात बूटासिंह नामक एक सिक्ख किसान से होती है। उन्होंने निर्धन होने के बावजूद भी पैसे देकर लड़की को खरीद लिया। निर्वस्त्र कन्या की पवित्र देह को ढकने केलिए रेत में गड्ढे बनाकर बूटासिंह उसे वहाँ बिठाता है और चार कोस दूर बाज़ार से उसके लिए कपड़े खरीद लाते हैं। दोनों ब्याह कर लेते हैं। उन दिनों एक समझौते के तहत, विभाजन के समय लापता हुई औरतों को तलाशा जा रहा था। बूटासिंह के परिवारवालों ने उन दोनों के जीवन से ईर्ष्यालू होकर जेनिब की ख़बर फौज को दी। उसे पकड़कर दिल्ली के शरणार्थी कैंप में पहुँचा दिया गया। बूटासिंह और उसकी बैटी वहाँ पहुँच तो जाते हैं लेकिन मुसलमान होने के नाम पर जेनिब को उसके घरवालों के सुपुर्द कर दिया गया। बूटासिंह मुसलमान बनकर पाकिस्तान चलने के लिए तैयार हो गए। वीज़ा न मिलने पर वह छिपकर सरहद पार करके पाकिस्तान पहुँचा। जेनिब के घरवालों ने उन्हें मुसलमान नहीं समझे

और जेनिब को अदालत में पेश नहीं किया। मुकदमा हारने के बाद बूटासिंह ने अपनी बच्ची के साथ आत्महत्या कर ली। विभाजन के साथ मनुष्य की आत्मा भी बिभाजित हो जाने की यह दारुण कहानी है।

कमलेश्वर, उपन्यास के एक पात्र निखिल चक्रवर्ती के माध्यम से यह बताते है कि "पाकिस्तान से पाकिस्तान पैदा होता है। यह छूत का रोग है। जब तक धर्म, नस्ल, जाति और दुनिया की पहली शक्ति बनने का नशा नहीं टूटता, जब तक सत्ता और वर्चस्व की हवस नहीं टूटती, तब तक इस धरती पर पाकिस्तान बनाए जाने की नृशंस परंपरा जारी रहेगी"।[1]

कमलेश्वर इस उपन्यास के द्वारा विभाजन के ऐतिहासिक कारण ढूँढ़ते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह साम्राज्यवादी ताकतों की कुटिल चाल का नतीजा था जिसने अपने रहते हुए हिन्दू-मुसलमानों को आपस में लड़वाया और जाते हुए ऐसे बीज बोकर चले गये जिससे वे हमेशा आपस में लड़ते रहे।

भारत विभाजन, बहुत ही क्रूर और मानव समाज के लिए अत्यन्त कटु अनुभव था। विभाजन के कारण लोगों को अपनी जन्मभूमि से बेदख़ल होकर जलावतनी स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ा। पैशाचिक लीला का यह सफ़ा, इतिहास का सबसे काला सफ़ा है।

---

1. कमलेश्वर - 'कितने पाकिस्तान', पृ. सं: 187

भारत विभाजन और तत्कालीन नारी की त्रासदीय जीवन।

देश के अंदर साँप्रदायिक शक्तियों ने बर्बर तांडव कर मानवीय मूल्यों को ध्वस्त किया और भारत की साँझी विरासत और संस्कृति को तार-तार कर दिया। साँप्रदायिकता के जुनून में मनुष्य, मनुष्य न रहकर क्रूर हिंसक और बर्बर पशु बन गया। विभाजन काल में हुए साँप्रदायिक दंगों में स्त्री सबसे अधिक बलात्कार, हत्याओं और लूट का शिकार हुई।

कई स्थानों पर औरतों के साथ ऐसा पैशाचिक नृत्य खेला गया कि संसार-भर की दैवी प्रवृत्तियाँ दाँतों तले उंगली दबाने लगीं। विभाजन के समय हिन्दू-मुसलमानों के बीच प्रतिहिंसा की भावना इतनी बलवती हो गई थी कि वे परस्पर स्त्रियों की गोदी से बच्चों को छीनकर पीस देते थे और औरतों के साथ अमानवीय व्यवहार किया करते थे। उन्हें अंगच्छेद करके उनकी नंगी जुलूस निकालने में भी नहीं हिचकिचाते थे। स्त्रियों की इज़्जत को गाजर-मूली की तरह उखाड़कर फेंक देने की क्रिया हिन्दुस्तान की आज़ादी में जैसी दिखायी पड़ी है, वह अभूतपूर्व है। भारतीय अज़ादी के मकान की नींव में सिर्फ शहीदों की रक्त-रंजित आत्माएँ ही नहीं पड़ी हुई है बल्कि उससे कहीं बढ़कर स्त्रियों की अस्मत भी रखी गयी है।

देश के बँटवारे के नाम पर इतने जघन्य पाप लोगों ने किये, इससे आज़ादी की कल्पना ही कलुषित हो गयी। आज हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की जो सीमा निर्धारित है, उसके दोनों ओर कितने निरपराध

लोगों का खून बहाया गया, कितनी स्त्रियों का सतीत्व नष्ट किया गया इसका विचार कर आज़ादी का सारा आदर्श ही मिट्ठी में मिलता हुआ दिखायी पड़ता है।

यज्ञदत्त शर्मा कृत 'इन्सान उपन्यास' में स्त्रियों तथा बच्चों पर हुए अत्याचारों का वर्णन है। विभाजन के समय, मनुष्यता कहीं बह गयी। लोगों में दानवता अट्टहास कर उठी थी और क्रूरता का पक्ष मज़बूत होता जा रहा था। बहुत से मासूम बच्चों को धर्म के पागलदीवानों ने चीर डाला। फूल के सुकुमार बच्चों को पिशाचों ने उठाकर पृथ्वी पर इस तरह पटक दिया जैसे धोबी पत्थर पर मैले कपड़ों को छाँटता है। बालिकाओं के अंग-भंग करके, हाथों को पीछे बाँधकर उनकी नंगी जुलूसें निकाले गये। रेलवे स्टेशन पर लाशें इस प्रकार पड़ी थी मानो भंगियों ने बीमारी फैलानेवाले कुत्ते-बिल्लियों को ज़हर की गोलियां खिला दी हों। धर्मान्धों ने स्त्रियों को जड़ पदार्थों से भी हेय समझा। घरवालों के सामने उनकी बहु-बोटियों को अपने हवस का शिकार बनाकर निगल लिया।

अमृतराय रचित 'बीज' उपन्यास में विभाजन के नाम पर हुए कुकृत्यों का बयान है। पेट्रोल छिड़ककर घरों में आग लगायी जा रही थी और लोग उसमें भुन रहे थे। बहशियों ने लड़कियों को नोंच डाला। उनकी अस्मतें फसल की तरह खेतों में बिछी हुई थीं और एक के बाद दूसरा जानवर उन्हें चर रहा था। विभाजन वस्तुतः एक भयंकर भूकंप

था जिसमें पृथ्वी के फट जाने तथा उसमें समा जाने में ही दोनों ओर के लोगों का कल्याण था। मनुष्य द्वारा मनुष्य की दुर्गति उस समय हुई, वह कल्पना क्षेत्र से भी बाहर की बात है।

'फ्रीडम एट मिटनाइट' पुस्तक में विभाजन से संबन्धित अलग-अलग दृश्यों का कोलाज़ प्रस्तुत किया गया है। इसमें उल्लेख है कि भारत की प्रसन्नतापूर्ण आज़ादी का दिन पंजाब के लिए 'हॉरर' का दिन था। इसकी प्राचीन वीथिकाओं का रंग रोज़ की तरह राजसी रंग न होकर लाल था। सिक्खों के एक जत्था ने मुसलमानों के घर पर आक्रमण करके पुरुषों को मार डाला। औरतों की बलात्कार हुई और काँपती और भयभीत अवस्था में उन्हें स्वर्ण मंदिर के सामने नंगे करके प्रदर्शित किया गया।

यशपाल कृत 'झूठा सच' उपन्यास की नायिका, तारा को ससुराल से एक गुंडा उठाकर ले जाता है और उसका क्रूर बलात्कार होता है। इस उपन्यास के कई स्त्री पात्र विभाजन से जुड़ी त्रासद स्थितियों को भोगती हैं। पुरुष समाज का सारा पौरुष स्त्री को गाली देने, उसे रौंदने, भोगने और उत्पीड़ित करने में ही व्यतीत होता है। 'झूठा सच' की एक नारी पात्र का वाक्य देखिए "हिन्दवी हो चाहे मुसलमानी, जो अपनी इज़्जत के लिए मर गयी, वही अच्छी रही। औरत के शरीर की तो बरबादी है। औरत तो खैर बकरी है जो चाहे छीन ले जाए"।[1] लोग

---

1. यशपाल - 'झूठा सच', पृ. सं: 424

एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। बच्चों को उनकी माताओं से छीन लिया जाता है। स्त्रियों के साथ नृशंस बलात्कार किया जाता है तथा विरोध करनेवालों को क्रूरतापूर्वक मार दिया जाता है। 'झूठा सच' उपन्यास की तारा को उसका परिवार अमानवीय स्थितियों में धकेल देता है और समाज उससे पशु से भी बदतर व्यवहार करता है।

नारी जीवन में छायी त्रासदियों का दिल दहलानेवाला वर्णन 'झूठा सच' उपन्यास में है। एक गुंडे द्वारा तारा का बलात्कार, डॉ. शोभा के साथ सड़क पर सामूहिक रूप से बलात्कार और उसकी हत्या, नग्न मुसलमान औरतों का खुली सड़क में नीलामी, नग्न हिन्दू युवतियों को बंदी बनाना, नग्न स्त्री के शव का ताजिये के समान नगाड़ों और बाजों के साथ जुलूस निकालना जैसी दानवी प्रवृत्तियों का हृदय-विदारक दृश्य उपन्यास में है।

विस्थापन से सर्वाधिक दुर्दशा स्त्रियों की हुई। बाद में जब वे अपने परिवारों के पास आये तो परिवारवालों ने उन्हें भ्रष्ट मानकर स्वीकारने से भी इंकार कर दिया। बंती के रूप में ऐसी स्त्रियों का अत्यन्त दारुण व त्रासद रूप इस उपन्यास में प्रस्तुत है जो तारा के साथ ही मुक्त होकर भारत आयी थी और अपने पति-बेटे की तलाश में भटककर अंत में जब दिल्ली में पति के घर पहुँच जाती है तो उसकी सास व पति घर में घुसने नहीं देते। पूर्ण रूप से परित्यक्त बंती, वहीं दहलीज़ पर सिर पटककर प्राण दे देती है।

दुनिया को सुंदर बनाने वाली, पुरुष को जन्म देनेवाली, दुःख में बराबर का कंधा देनेवाली, निष्पाप मुस्कान से पुरुष की परेशानी सुननेवाली स्त्री, पुरुष रचित समाज में किस तरह उपेक्षित है इसका एहसास 'झूठा सच' उपन्यास में यशपाल बखूबी करवाते हैं। भीड़ के बीचोंबीच चुटिया से खींचकर जवान निर्वस्त्र लड़कियों को नीलाम किया गया, यह क्रूरता की आखिरी सीमा है, पशुता का सबसे बड़ा सबूत है। शरणार्थी कैंप में ऐसी अनेक लड़कियाँ थीं जिसे ब्याह कर देने के कारण अपने परिवार ने अपनाया नहीं और कलंकिता समझकर ससुरालवालों ने भी साथ नहीं ले गये। 'झूठा सच' उपन्यास के एक स्त्री पात्र, चिंती को परिवारवाले और ससुरालवाले नहीं अपनाते। दोनों परिवार के लिए बोझ बनी चिंती जैसी औरतें बिना किसी अपराध के दुख भोगती रहीं। उन दिनों औरत को एक व्यक्ति के रूप में कोई हैसियत नहीं थी।

रावलपिंडी जिले का छोटा-सा गाँव, थोआ खालसा में करीब नब्बे औरतों ने कुएँ में कूदकर जान दी, तीस के करीब औरतों को उनके घरवालों ने काट डाला। 'द स्टैट्समैन' में खबर देते हुए बताया कि भारतीय स्त्रियों के अनुसार विशिष्ट परिस्थितियों में आत्मसमर्पण के बजाय आत्महत्या नैतिक रूप से बेहतर है। 'झूठा सच' उपन्यास के सत्तो नामक एक स्त्री पात्र भी हमलावरों से बचने के लिए कुएँ में कूद पड़ी। दूसरी लड़कियों के कूदने से पहले ही मर्दों ने लाठियाँ मार-

मारकर उन्हें गिरा दिया और पकड़ लिया। इस उपन्यास के पात्र, जयदेव पुरी सड़क के दोनों ओर बिखरी हुई लाशें, स्त्रियों की नंगी अपमानित लाशें, लोगों के कटे हुए अंग देखते हैं। बँटवारे के दौरान, स्त्रियों और बच्चों पर छा गये संकट को समझकर उन पर आपदाएँ टूटने से पहले ही बहुत-से हिन्दू-सिक्ख परिवारवालों ने उन्हें मार डाला।

विभाजन से जुड़ी विभिषिकाओं में शिकार हो जाने के कारण अनेक औरतें गर्भवती हो गयीं। कैंप में इन लोगों ने बच्चों को जन्म दे दिया और ऐसे बच्चों की परवरिश के लिए सरकार ने इलाहाबाद में 'शारदा भवन' बनाया। विभाजन ने लोगों की नैतिकता के सारे नियम बदल दिये। बहुत से लोग शरणार्थी लड़कियों को चरित्रहीन समझकर उनका दुरुपयोग करने पर तुले हुए। 'झूठा सच' उपन्यास के तारा और कनक के साथ भी ऐसी हादसाएं होती हैं। बहुत-सी परित्यक्त लड़कियाँ घेरलू नौकरानियाँ बन गयीं और अनेक औरत हालात से समझौता करके वेश्याएँ बन जाने के लिए विवश हुईं।

स्त्री चाहे किसी भी वर्ग या संप्रदाय की हो, उनकी दशा समाज में एक जैसी है। पुरुष प्रधान समाज ने स्त्री को बराबरी का दर्जा कभी नहीं दिया या तो उसे देवी और शक्ति के रूप में महिमामंडित करके उनके पैरों में दिव्यता की बेड़ियाँ पहनायी या फिर उसे पैर की जूती समझा।

जो लोग भारत की आज़ादी को मात्र सत्य, अहिंसा तथा शान्ति से प्राप्त वस्तु समझते हैं उन्हें अपने विचार में परिवर्तन लाना होगा कि भारत की स्वतंत्रता, रक्तहीन क्रान्ति से प्राप्त नहीं हुई है, उसके मूल्य के रूप में राष्ट्र को जो 'महारक्तदान' करना पड़ा उसे भुलाया नहीं जा सकता। इस रक्तदान में औरतों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

शरणार्थियों तथा मोहाजिरों की समस्याएं।

न सिर्फ भारन के इतिहास में,दुनिया के इतिहास में भी 1947 के विभाजन और उससे पैदा विस्थापन की विकट समस्या के उदाहरण कम ही मिलते हैं, फिर भी तमाम तरह के विघ्नों को पारकर विस्थापितों और शरणार्थियों ने भारतीय समाज में तो अपनी जगह सुरक्षित बना ही ली जबकि पाकिस्तान में, मोहाजिरों को अभी भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया और स्थानीय लोगों से उनके हिंसक संघर्ष चलते रहते हैं।

शरणार्थियों ने अपनी मेहनत से स्वयं ही नयी जगह पर बसना - जमना शुरु किया। दिल्ली जैसे शहरों में पंजाबी विस्थापितों ने स्थानीय जनता को ही उनकी जगह से हिला दिया। अपनी व्यावसायिक बुद्धि व पुरुषार्थ से इन विस्थापितों ने उनके जमे-जमाए व्यापार या कारोबार को चुनौती दे दी। पटियाला, जालंधर, अमृतसर जैसे शहरों में भी विस्थापितों ने मूल निवासियों से अधिक प्रतिष्ठा पा ली। विस्थापितों और शरणार्थियों के पुनर्वास के नाम पर खुले सरकारी विभागों में भी

राजनीति का दख़ल हो गया था। सरकार ने पुनर्वास विभाग को बंद करना चाहा लेकिन इस विभाग में भर्ती कर्मचारी और उनके राजनीतिक संरक्षक इसके खिलाफ़ थे। शरणार्थी कैंप और मुफ़त राशन डेढ़ साल बाद बंद किया गया लकिन पुनर्वास विभाग किसी और नाम से चलता रहा।

पाकिस्तान से जो लोग भारत भाग आये, उन्हें प्रारंभ में 'शरणार्थी' नाम दिया गया था। उन्होंने अपने परिश्रम से देश में शीघ्र ही अपना उपयुक्त स्थान बना लिया था और वे गौरव से अपने-आपको 'पुरुषार्थी' कहते थे। धीरे-धीरे वे यहाँ की मुख्यधारा में खपकर पूरे सुख और सम्मान से रह रहे हैं। उन्हें कोई भेदभाव की सामना करना नहीं पड़ रहा है। इसका एक उत्तम उदाहरण है-भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री, इंदर कुमार गुजराल। वे पाकिस्तान से शरणार्थी बनकर आये थे और उन्होंने भारत में नये सिरे से जीवन शरु किया। वे स्वयं लिखते हैं- "इस प्रकार मैं भारत, शरणार्थी के रूप में आया। कराची में अपना व्यवसाय, झेलम में अपनी जायदाद, सभी कुछ खोकर। हमें कभी कल्पना भी नहीं थी कि दोनों देशों के बीच इतनी पुख़्ता दीवार खड़ी होगी। हमारा ख़याल था, सब ठीक हो जाएगा (किन्तु, ऐसा हुआ नहीं) इसलिए विभाजन इतना खटकता है"।[1] "क्या कभी मैं सोच सकता था

---

1. आउटलुक (1947- 1997 विशेषांक) पर प्रकाशित संस्मरण से उद्घृत और अनूदित - पृ. सं: 34.

कि भारत का प्रधानमंत्री बनूँगा? कभी नहीं। भारत में यही तो खूबी है। कहाँ ऐसा संभव है कि देश में बाहर से आनेवाला पहली पीढ़ी का व्यक्ति, वहाँ का राष्ट्र-प्रमुख हो जाय?"[1]

पाकिस्तान में पहले हिन्दू-सिक्ख को मज़हब के नाम पर सफ़ाया किया गया। फिर एक ही धर्मावलंबियों को अपनी ही लपेट में उड़ा ले गयी। सिया-सुन्नी और अहमदियों के विरुद्ध वहाँ आंदोलन छिड़े गये। मोहाजिरों को भी पाकिस्तानियों ने अस्वीकार किया। वे लोग भारत छोड़कर पाकिस्तान में सपनों का देश तलाशने गये थे किन्तु वहाँ उन्हें ग़ैरों की तरह दुत्कारा गया। उन्होंने आत्मरक्षा के लिए आंदोलन किया। उसे दबाने के लिए उनके नेता, अलताफ़ हुसैन को देश से भगाया। उन्होंने सन् 1992 में इंग्लैंड में शरण ली और अब वे वहीं से मोहाजिर-आंदोलन का संचालन कर रहे हैं। उनके अनुसार, मोहाजिरों के साथ पाकिस्तान में युद्धबंदियों जैसा व्यवहार हो रहा है। उन्हें मौलिक अधिकारों से ही वंचित नहीं किया गया, साथ ही उन्हें पाकिस्तान की भूमि का निवासी भी मानने से इंकार कर दिया गया। भारत से पाकिस्तान गये लोगों के लिए पहले ही 'मोहाजिर' (आनेवाला) नाम गढ़ा था। यहीं से उनके प्रति भेदभाव की नीति आरंभ हुई। पाकिस्तान पाने के लिए संघर्ष करनेवालों में सबसे आगे मोहाजिर थे, फिर भी

---

1. आउटलुक (**1947- 1997** विशेषांक) पर प्रकाशित संस्मरण से उद्धृत और अनूदित - पृ. सं: 34.

पाकिस्तान बनने के कुछ ही वर्षों के भीतर उन्हें सिविल सेवाओं और अन्य ऊँचे पदों से निकाल बाहर किया गया। जो लोग 1947 के बाद पाकिस्तान में जन्मे, वे भी तीसरे दर्जे के नागरिक समझे जाते हैं और 'मोहाजिर' नाम उन पर चिपका रहता है।

शरणार्थियों की समस्याएं - समकालीन उपन्यासों में।

विभाजन के फलस्वरूप पंजाब से उखड़कर दिल्ली की ओर आये एक समूची पीढ़ी कैसे एक पैशाचिक तहस-नहस के बाद साहस और आपसी सहायता के बल पर अपने को नई परिस्थितियों में फिर से जमाती है, यही यशपाल कृत 'झुठा सच' उपन्यास के दूसरे भाग 'देश का भविष्य' की कथा वस्तु है। शरणार्थियों ने बिना संकोच से हर छोटे-मोटे धंधे को जीविका-पालन केलिए अपनाया। इस उपन्यास में शरणार्थियों के करुण दास्तान, कैंपों की भीड़भाड़ एवं अफ़सरों तथा गद्दानशीन नेताओं के स्वार्थ व्यवहार आदि का ऐतिहासिक तथ्य निष्टा एवं कलात्मक सप्राणता के साथ वर्णित किया गया है।

विभाजन के बाद, लोग कई शहरों में बंट गये। इन शरणार्थियों ने स्थायी रूप से जमने के लिए बड़े कष्ट उठाए। परेशानियों और असुविधाओं ने लोगों को झकझोरकर रख दिया। 'झूठा सच' उपन्यास के दूसरे भाग का शुरुआती दृश्य ही जालंधर मे शरणार्थियों को मुफ़्त राशन बाँटनेवाली क्यू का दृश्य है। इसमें शरणार्थियों के नये जीवन की कश्मकश, लाखों व्यक्तियों के नये सिरे से जमने और जीविका के प्रश्न

को दर्शाया गया है। स्थिति यह थी कि विभाजन से विस्थापित लोग कीड़ों-मकौड़ों की तरह फैल गये। दिल्ली, जालंधर, अमृतसर जैसे शहरों में इन लोगों ने पहरा डाल दिया।

पंजाबी विस्थापितों के लिए लोगों में कोई सहानुभूति नहीं थी। उन लोगों ने अपने संघर्षों से स्वयं को पुनः स्थापित किया। इसके लिए न उन्हें सरकारी सहायता मिली, न स्थानीय संवेदना और सहयोग। उनके कठिन परिश्रम से वे विस्थापित से फिर स्थापित हो गये।

'झूठा सच' उपन्यास के अनुसार, अमृतसर जो अब भारत का सीमांत बन गया था शरणार्थियों से भर गया। वहाँ के रेलवे स्टेशन मधुछत्र की भाँति भनभना रहा था। वातावरण पुकारों, चीख-चिल्लाहट और दुर्गंध से भर गया। दिल्ली शहर में मकान न मिलने पर लोग फुटपाथ और चौड़ी छतों पर भी तिरपाल तानकर बसे। पुरानी दिल्ली के हर खुले जगहों पर इन्हीं स्थानहीन, निराश्रय शरणार्थियों के लिए कैंप बना दिये गये। उन्हें प्रति दूसरे दिन दो रोटियाँ दी जा रही थीं, जल भी अपर्याप्त था। बहुत से लोग भूख से मर गये। भारत से गये मुसलमान, भारत सरकार के आश्वासन से अपने घरों में पुनः बसने के लिए वापस चले आये। फलस्वरूप उनके घरों को खरीदकर रह रहे बहुत से हिन्दू परिवार सड़कों में आ गये।

दिल्ली और पंजाब के राहत शिविरों में शरणार्थियों की बेशुमार तादाद थी। विभाजन ने सभी वर्गों के लोगों को एक ही ज़मीन पर

लाकर खड़ा कर दिया। इन कैंपों में शरणार्थियों के अपने अनुभव हैं, भ्रष्टाचार के किस्से हैं, लूटने-ठगने और परिवारी जनों के वियोग की गाथा है। इन सबसे परे स्थानीय लोगों का आमानवीय व्यवहार है। अपने परिश्रम से शरणार्थियों ने भारतीय समाज में अपना विशिष्ट स्थान बनाया।

द्रोणवीर कोहली द्वारा रचित 'वाह कैंप' उपन्यास में कैंप में आये लोगों की दुःख-दर्द भरी ज़िन्दगी उभरकर आती है। हड़बड़ी में लोग सबकुछ छोड़कर भारत आये और फिर उन्होंने यहाँ बसने और नये सिरे से जीवन शुरु करने का संघर्ष शुरू किया। अमीर रिश्तेदारों का मुँह फेर लेना, लुट-पिटकर आये तमाम लोगों का अपना आत्मसम्मान एक ओर रखकर मेहनत - मज़दूरी की लाइन में खड़े हो जाना और लगातार अपमान और कटाक्ष झेलना बहुत ही दयनीय स्थितियाँ हैं, जो एक नये महाभारत से कम नहीं।

प्रताप सहगल के उपन्यास 'अनहद नाद' भारत आये शरणार्थियों की कथा है। 'रिफ्यूजी' शब्द उन्हें जोंक की तरह काटना है और तकलीफ़ देता है और वे सम्मान-पूर्ण ज़िंदगी जीने के सपने में दिन काटते रहते हैं। आज़ादी के साथ ही मनुष्य की आँखों में विकास और सामाजिक समानता का सपना जगा था। किन्तु, बाद की बदली हुई परिस्थितियों में यह तिलिस्म का दुर्ग भड़भड़ाकर गिरा। उसीकी अनुगूँज इस उपन्यास में है। आज़ादी के आसपास पैदा हुई पीढ़ी के

लिए विभाजन, जीवन का एक सत्य खंड है। इतिहास के इस क्रूर सच्चाई को झेलने के लिए अभिशप्त तत्कालीन समाज का वर्णन इसमें है।

देश का विभाजन हुआ तो उपन्यास का पात्र लाला जगतनारायण को भी अपना सबकुछ छोड़कर पश्चिमी पंजाब से भागना पड़ा। वाघा बार्डर पार करके वह परिवारसमेत अटारी कैंप पहुँचा जहाँ कुछ लोग रोटियाँ ले आकर हवा में उछालने लगे। चील-कौवों की तरह लोग उसपर झपट पड़ते थे। कैंपों से बाहर आये ज़्यादातर लोग पंजाब और दिल्ली में रहने लगे। कुछ लोग राजनेताओं से मिल-मिलाकर पैसा, लाइसेंस या ज़मीनें हड़प लीं और दिनों दिन अमीर होते गये। जो संकोची थे, बहुत इमानदार थे, वे पीछे छूट गये। कई कॉलनियों में सरकार ने प्लॉट और कहीं एक कमरा भी बनाकर शऱणार्थियों को अलॉट कर दिये थे। इसी के तहत कुछ लोग जिनके पास बँटवारे से पहले मकान नहीं था, वे मकानवाले हो गये। पुनर्वास मंत्रालय के एक क्लर्क ने एक मकान जगतनारायण के नाम करवाने के लिए तीन हज़ार रूपए माँगे। सरकार से जिस व्यक्ति के नाम मकान अलॉट हुआ उसके आगमन से पासा पलट गया और जगतनारायण और उनके बेटा, शिवा के नाम पुलीस-केस भी दर्ज कर दिये गये।

शरणार्थियों के आगमन के बाद ग़ैरकानूनी बस्तियों के कारण दिल्ली का नक्शा ही बदल गया। विभाजन की विभीषिका से पीड़ित

शरणार्थियों की आर्थिक विषमता एवं भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिपाद्य इस उपन्यास में है। विभाजन के मार खाए ये शरणार्थी भ्रष्ट शासन व्यवस्था की चक्की में पिस गये। लोग कल्पना भी न कर सकें कि यह एक ऐसा अभिशाप है जिसके द्वारा आवश्यक चीज़ें भी पल-भर में उनसे छीन ली जाएगी।

विभाजन दीखने में तो ज़मीन का था लेकिन हक़ीकत में उसने यहाँ के लोगों के दिलों के साथ ऐसा छलना किया कि आज भी वे उस पीड़ा से मुक्त नहीं हो पाये, उसका साक्ष्य है हरदर्शन सहगल कृत 'टूटी हुई ज़मीन' उपन्यास। इसमें एक ऐसे परिवार का दास्तान है जो पाकिस्तान से बेदख़ल होकर 'असली हिन्दुस्तान' पहुँच ज़रुर गया लेकिन टूटे-बिखरे दिल को संभालना उसके लिए बहुत मुश्किल था। देश में साँप्रदायिकता की आग भड़की और हालात दिन-ब-दिन बिगड़ने लगी। दंगों से बचते-बचाते यह परिवार शेखपुरा से अंबाला तक पहुँचा जहाँ उसने कैंप में शरण ली। बाद में 'बसेरा' मिलने पर भी मन की बेदख़ली को 'बसेरा' नहीं मिलता।

यह उपन्यास, विभाजन की त्रासदी के कारण बालमन पर उपजे सवालों का दस्तावेज़ है। उपन्यास का पहला भाग 'बेदख़ल' होने की प्रक्रिया से लेकर विस्थापित होने का दर्द लिये हैं। किला शेखपुरा में बसे जयदयालजी और अन्य हिन्दू परिवार ने सपने में भी यह नहीं सोचा था कि उन लोगों को अपने घर-ज़मीन, सामान और दोस्तों से अलग होकर

रातों-रात भागना पड़ेगा। वातावरण में धीरे-धीरे बढ़ रहे सरगर्मी बालक कुंदन को बेचैन करता है। उनके बालमन 'पाकिस्तान माँग' को समझ नहीं पाते। कुंदन के परिवार बहुत से दारुण स्थितियों का सामना करके हिन्दुस्तान पहुँचते हैं और विस्थापित होने के भीषण दर्द से कुछ राहत पाता है। दूसरे खंड 'बसेरा' में विस्थापित होने के बाद से पुनर्स्थापित होने के दर्द तक का वर्णन है। सभी दृष्टियों से एक नितांत अपरिचित दुनिया में स्वयं को जमाने और ज़िन्दगी की धारा में मिला देने की कोशिश में जूझते शरणार्थियों का वर्णन इसमें है। स्वाधीनता के बाद जन्म लिये नये खिंचावों और तनावों से जूझते हुए ये लोग ज़िंदगी का नया समीकरण तलाशता है।

विभाजन के उपरांत पंश्चिमी पंजाब से लोग उखड़कर दिल्ली में आ बसते हैं। अनेक कठिनाईयों के बाद लोग बस जाते हैं,लेकिन बहुत से लोग विभाजन-पूर्व की स्मृतियों में जी रहे थे, महीप सिंह कृत उपन्यास 'अभी शेष है' के मानसिंह उन लोगों में से एक था। विभाजन के दिनों की रक्तरंजित स्मृतियाँ कभी-कभार उन्हें खून के आँसू रूलाती हैं। आज भी वहीं उन्हें अपना देश लगता है। भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान की हार पर वह सुन्न हो जाते हैं और उनकी प्रतिक्रिया है 'तुम्हारा देश जीत गया पर मेरा मुल्क हार गया'।

देश-विभाजन ने जहाँ मानसिंह को द्विभाजित मानसिकता में जीने को मजबूर किया वहीं इम्तियाज़ जैसे मुसलमानों को भी फाँके में

बाँट दिया। उनके आधे परिवार सरहद के उस पार हैं तो आधे इस पार। जब दोनों देशों में तनाव बढ़ जाता है तो इन्हें अपनी देशभक्ति साबित करने जैसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। वह सोचना है कि पाकिस्तान बनने से आखिर उन्हें क्या मिला? वहाँ उनके सगे-संबन्धी मोहाजिर हो गये और हिन्दुस्तान में वह दूसरे दर्जे का आदमी बन गया।

देश विभाजन के कारण लोग अपनी ज़मीन से कट गये। उन्हें अपना घर वापस बुलाता है पर वे वहाँ जा नहीं सकता। विस्थापित हुए करोड़ों लोग अपनी पीड़ा को सहते हुए जीने के लिए विवश हुए।

मोहाजिरों की समस्याएं - समकालीन हिन्दी उपन्यासों में

भारत का जो अप्राकृतिक विभाजन हुआ उसके कारण विस्थापित लोग पुरखों के ज़माने के ज़र-ज़मीन से ही नहीं, अपने जिस्म और रूह के प्यारे अंतरंग टुकड़ों से भी बिछुड़ गये। इस त्रासदी को भी आजीवन सहते जाना उनकी दुर्निवार नितयि बन गयी। हिन्दुस्तान से पाकिस्तान चले गये मुसलमानों के साथ वहाँ बदस्तूर भेदभाव और नाइंसाफ़ी का ज़ाहिलाना सलूक किया जा रहा है। उनके 'स्टेट्स' अभी तक वहाँ शरणार्थियों का ही बना हुआ है।

जोगेन्द्र पाल रचित 'ख्वाबरौ' उपन्यास के पात्र, दीवान मौलवी साहब लखनऊ छोड़कर कराची आने के बाद भी उनके नस-नस में पुराना शहर समा हुआ था। यथार्थ का एहसास कराने की सभी

कोशिशों के बावजूद भी मौलवी एक भावोन्माद की स्थिति में डूबे रहे। उनके परिवारवाले, पाकिस्तान में चल रहे मोहाजिरों के भेदभाव के लिए बेपनाह मुसीबतें झेली, सबकुछ त्यागकर दर बदर हुए तथाकथित अपने और अपनों के देश में मोहजिर ही कहलाते रहे। ऐसे लांछनापूर्ण 'लेबल' की तिक्तता के विष को वे दशाब्दियों तक चुपचाप पीते रहे। विक्षोभ और बेबसी के ऐसे मानसिक तनाव में जीनेवाले कुछ लोग इस सदमे को बर्दाश्त न करके पागल होगये। मौलवी साहब भी उसी दुनिया के अभिशप्त वारिंदे बनकर रह गये। उनकी बीवी, बड़ी बहू और पोती एक बम धमाके में मारे जाने से आहत मौलवी को जल्द ही यह मालूम पड़ता है कि वह कराची में हैं। इस उपन्यास के द्वारा उपन्यासकार यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि मोहाजिर अपने को पाकिस्तान से न जोड़ पाने के कारण स्थानीय लोगों की घृणा, क्रोध और हिंसा का शिकार बन जाते हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन के पश्चात्, अनेक मुसलमान अपने 'सपनों के देश' पाकिस्तान चले गये। जो लोग वहाँ पहुँचे उन्हें वहाँ की मुसलमान आबादी ने हृदय से नहीं अपनाया। दोनों राष्ट्रों के बीच पैदा हो रहे राजनीतिक मतभेदों ने पाकिस्तान गये लोगों को अपने सगे-संबंधियों से बिलकुल काट दिया। एक दूसरे से अलग हुए परिवारवालों ने कठिनाई से जीवन में तरक्की की, लेकिन कुछ बात ऐसी थी जिन्होंने उन्हें स्तब्ध और गूँगा बनाये रखे। इस के लिए वे हमेशा

छटपटाते रहते हैं। बरसों बाद मिलने पर उन दोनों को अपने बीच एक अदृश्य दीवार का एहसास होता है जिसे ढहाना चाहते हुए भी लाचार रह जाते हैं।

देश- विभाजन के कारण एक मुस्लिम परिवार किस प्रकार दो टुकड़े हो गया और उनके भीतर तत्संबंधी कसक उन्हें किस तरह अस्थिर करती रहती है, यह तथ्य नासिरा शर्मा कृत 'ज़िंदा मुहावरे' उपन्यास निरंतर उद्‌घाटित करता चलता है। उत्तरप्रदेश के फैज़ाबाद जिले के एक गाँव के निवासी रहीमुद्दीन, मुसलमान ज़मींदार था। उनका छोटा बेटा, निज़ामुद्दीन को लगता है कि स्वतंत्रता के बाद घर की ज़मींदारी चली जाएगी और हिन्दू-प्रधान भारत में उसका भविष्य नगण्य होगा। बड़े भाई के समझाने के बावजूद वह पाकिस्तान चला जाता है। कराची पहुँचकर उसके हाथ आता है एकाकीपन और पेट भरने के लिए मोटी मेहनत-मज़दूरी। निज़ाम, मज़दूरी और फेरीवाले के अतिसामान्य नौकरी करके धीरे-धीरे वहाँ पैर जमा लेता है।

निरंतर अथम परिश्रम करने के बाद निज़ाम का कारोबार 'निज़ाम गार्मेंट' के नाम से जमने लगता है। यहाँ जम जाने पर भी उन्हें मूल निवासी के रुप में स्वीकृति प्राप्त नहीं होती, वह दूसरे दर्जे के नागरिक, 'मोहाजिर' के रुप में ही समाज में पहचाना जाता है।

निज़ाम जब भी कुछ दिनों के लिए हिन्दुस्तान आने की इच्छा करता है, दोनों ओर के सियासी तनावों के कारण असफल होता

है। धन- दौलत प्राप्त होने के बावजूद उनके भीतर एक एहसास सताता रहता है, अकेलेपन और उदासी में वह डूब गया। मन में निज़ाम सशंकित हो उठता है कि उसने यहाँ आकर भूल तो नहीं की। बड़े प्रयत्न के बाद निज़ाम को भारत आने की वीज़ा मिलती है। भारत-पाक युद्ध छिड़ जाने से वह आ नहीं सका।

नवधनाद्‌य मोहाजिरों की असाधारण संपन्नता के प्रति वहाँ के निवासियों में ईर्ष्या और द्वेष का भाव है। साथ में, देश में हो रही समस्याओं से मोहाजिरों में बेगानेपन का एहसास द्विगुणित होती रहती है। निज़ाम यह सोचकर विवश हो जाता है कि "वहाँ हिन्दुओं का खौफ़ था कि वह मुसलमानों को जीने नहीं देंगे। मगर यहाँ तो हिन्दू मुट्‌ठी भर ही हैं और जो मुसलमान भरे हुए हैं वह पंजाबी, सिंधी, बलूची, पठान पहले है"।[1]

निज़ाम का बड़ा बेटा शहर के फसाद में गुम हो जाता है। अपने ऊपर प्रतिदिन हो रहे आपदाओं से मोहाजिरों में विचित्र बेचैनी व्याप्त हो गयी। कुछ लोगों ने बोरिया-बिस्तर बाँधा और लंदन, जर्मनी, अमेरिका में बसने गये। उनका कहना था कि जब हिन्दुस्तान छूटा तो तिनका-तिनका जोड़कर उसने ज़िन्दगी शुरु की, उसे हम दोबारा बर्बाद नहीं होने देंगे। बहुत-से मोहाजिर पाकिस्तान से हमेशा के लिए चले गये। उनके प्रवास के बाद निज़ाम अपने को बहुत बेबस पाया।

---

1. नासिरा शर्म - 'ज़िंदा मुहावरे', पृ. सं: 75

आखिर, निज़ाम कराची से सपरिवार भारत पहुँच जाता है। गाँव में रहते हुए उन्हें अनुभव होता है कि पाकिस्तान चले जाने का फैसला ठीक नहीं था। उन्हें लगता है कि यहाँ की साँप्रदायिक फसाद की ख़बरें कुछ बढ़ा-चढ़ाकर ही पाकिस्तान पहुँच रही थीं। अपने बड़े भाई के बेटे को कलक्टर के रूप में देखकर वह अपने फैसले पर शर्मिंदा हो जाता है। वह अंततः भतीजे के समक्ष हृदय खोलते हुए कहता हैः "पछतावा.... बहुत पछतावा हो रहा है बेटे। तुमसे क्या छिपाना। कुछ मज़ा नहीं आया ज़िंदगी में, सबकुछ पाकर भी। क्या खोया, यह आज समझ में आया"।[1] एक महीने बाद, मन पर एक विशेष उदासी और अलगाव का भाव लेकर निज़ाम वापस कराची की ओर रवाना हो जाता है।

स्वतंत्र भारत में मुसलमानों की अवस्था।

भारत विभाजन के पश्चात् हिन्दुस्तान में मुसलमानों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। भारत में रह जानेवाले मुसलमानों की समस्या बढ़ गयी। यह साफ़तौर पर ज़ाहिर है कि पाकिस्तान के बनने से मुसलमान भारत में और भी अल्पसंख्यक होकर कमज़ोर हो गया। विभाजन के बाद, मुस्लिम समुदाय का संपूर्ण अस्तित्व ही विभाजित हो गया था। जीवनशैली से लेकर प्रत्येक बिन्दु पर एक प्रश्नचिह्न-सा लग गया। सरकार द्वारा भारतीय मुसलमानों से किये गये प्रश्न (भारत में रहेंगे या पाकिस्तान में) उन्हें चिन्ता-निमग्न कर देता है। उनमें एक

---

1. नासिरा शर्मा - 'ज़िंदा मुहावरे', पृ. सं: 127

ओर भविष्य का सपना नवनिर्मित पाकिस्तान के प्रति आकर्षण पैदा कर रहा है तो दूसरी ओर स्वजनों से बिछुड़ने के दर्द ने उन्हें रोक रखा। पूरे वातावरण में मानसिक द्वन्द्व व्याप्त होगया था।

तमाम भय और प्रलोभनों के बावजूद भारत का आम मुसलमान पाकिस्तान नहीं गया क्योंकि वह अपना घर, अपनी ज़मीन और अपनी विरासत को छोड़कर अजनबियों के बीच जड़-छीन वृक्ष की भाँति नहीं जी सकता था। इस मिट्टी से उसे न भय जुदा कर सका, न नफ़रत पर आधारित स्थितियों ने उसकी राष्ट्रभक्ति, वफ़ादारी और मिट्ठी से लगाव को कठघरे में ला खड़ा कर दिया। राष्ट्र के प्रति अपनी सहानुभूति और राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में सहयोग देने के बावजूद भी आम मुसलमान 'भारतीय' न रहकर 'मुसलमान' होकर रह गया। भारत-पाक युद्धों और बंगलादेश विभाजन ने इस अवस्था को गहराने में और मदद की।

पाकिस्तान बन जाने और हिन्दुस्तान में ज़मींदारी व्यवस्था खत्म हो जाने के बाद मुसलमान टूट जाते हैं और एक अजीब तनहाई का दर्द सबको घेर लेता है। विभाजन के बाद, युवा पीढ़ी कैरियर बनाने के लिए पाकिस्तान चले जाते हैं और उनके परिवार भारत में तन्हाई झेलने के लिए मजबूर हो जाते हैं। एक ओर अपनी मिट्ठी न छोड़ने की तमन्ना और दूसरी ओर अपनी ही मिट्ठी अपने पैरों तले से खिसकती देखने के एहसास के बीच तनाव ही महसूस कर रहा था।

भारत में बसे मुसलमानों में इस त्रासद विभाजन के बाद आत्मविश्वास

घटा। विभेदकारी राजनीति के कारण वे लोग गहरी आशंका और असुरक्षा से घिर उठे। इसके कारण से ही बहुत से मुसलमानों ने विभाजन के दौरान भारत छोड़ने का निश्चय किया था। उन्हें लगा था कि भारत में उनकी अस्मिता, सुरक्षित नहीं रह पाएगी।

सामान्यतः भारतीय मुसलमान भारत में एक समस्या बना हुआ है। यह आम शिकायत है कि वह अपने आपको राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित नहीं करता। मुसलमान अपने को भारत से जुड़ा क्यों नहीं मानता, यह समस्या स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय संप्रदाय के नाम पर दो राष्ट्रों के सिद्धांत के अनुसार पाकिस्तान-निर्माण के फलस्वरूप पैदा हुई है जिससे धर्म-निरपेक्ष भारत में हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के प्रति संदेह के बीज बो रहे हैं।

आज़ादी के बाद, मुस्लिम-समाज की हालत और बिगड़ी। शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में पिछड़ेपन के कारण मुस्लिम समाज मुख्यधारा से कट गया। "वास्तव में विभाजन के बाद भारत का मुसलमान एक दीन-हीन प्राणी है। उस पर इतिहास की गहरी छायाएँ और वर्तमान के कुरुप दबाव हैं। उसकी सामाजिक स्थिति दयनीय है, राज्य सत्ता का कोई संरक्षण नहीं है और लोगों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है जिन्हें भारत में मुसलमानों का रहना अतार्किक लगता है"।[1]

---

1. राजकिशोर - 'भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ' - पृ. सं: 07-08

आज हिन्दू-मुस्लिम संबंधों को नये ढंग से देखा जा रहा है। मुसलमानों को भारत में मुख्य-धारा से अलग बताकर तमाम समितियों की रिपोर्टों के आधार पर उनके विकास के सरकारी प्रयासों में भी 'वोट बैंक' की राजनीति झांक रही है। मुस्लिम वर्ग को राजनीतिक पाटियां सिर्फ 'सुरक्षित वोट बैंक' के रूप में इस्तेमाल कर रही हैं। मात्र झूठे आश्वासन देकर उन्हें लंबे समय तक धोखे में रखते रहते हैं। समाज और सियासत के चरित्र में बदलाव आने पर भी मुस्लिम वर्ग की हालत में कोई सुधार नहीं आया जिसे अब भी जहाँ-तहाँ चारे की तरह इस्तेमाल किया जाता है।

सदियों से साथ रहने के बावजूद भारत के हिन्दू-मुसलमान साथ रहना अब तक सीख नहीं पाये हैं, यह भारतीय सामाजिक इतिहास का एक तीखा सत्य है। अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद इस लड़ाई के अंत होने की प्रतीक्षा थी। लेकिन पाकिस्तान का निर्माण करके अंग्रेज़ों ने इस स्थिति को और भी बदतर बनाया। जो ख़्वाब देखे गये थे, वे धूल धूसरित हो गये। आज़ादी के बाद नफ़रत, शक़ और ड़र लगातार फैल गये जिसके कारण भारत में न जाने कितनी बार और जगहों पर आग की लपटें देखी गयीं, उनकी तपिश और जलन को महसूस किया गया।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में विभाजनोपरांत भारत के मुसलमानों की अवस्था का अत्यंत सूक्ष्म एवं यथार्थ चित्रण मिलता है। विभाजन के पश्चात् भारतीय मुसलमानों में उपजी असुरक्षा की भावना एवं उनके

मनोविज्ञान को चित्रित करने में यह उपन्यास पूर्ण समर्थ रहा है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में चित्रित स्वतंत्र भारत के मुसलमानों की स्थिति।

सामाजिक व आर्थिक स्थितिः-

राही मासूम रज़ा रचित 'आधा गाँव' उपन्यास में भारत-पाक विभाजन के समय की मानवीय पीड़ा को 'गंगौली' गाँव के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। गंगौली गाँव विभाजन को भोगा एक गांव है .... सामाजिक रूप से टूटा हुआ, राजनीतिक रूप से त्रस्त, धार्मिक रूप से भ्रान्त और नैतिक रूप से द्वन्द्वमय। भारत विभाजन से उद्भावित मुसलमानों की द्विधामय-आहत मनोव्यथा का यथार्थ चित्रण इसमें है। पाक-निर्माण के विघातक प्रभाव से गंगौली की हर कैफियत अकेलेपन के दर्द से डूब-सी गयी है। 'आधा गाँव' उपन्यास ने देश की स्वंतंत्रता-प्राप्ति और उससे जुड़ी ऐतिहासिक घटनाओं को मुस्लिम साधारण की ऑखों से देखने का प्रामाणिक कार्य किया है। उपन्यास के आरंभ में ही विभाजन की काली छाया का मंडराते जाने का संकेत लेखक ने दिया है। ज्यों-ज्यों उपन्यास आगे बढ़ता जाता है, यह काली छाया फैलती जाती है और अंत में समूचे देश को निगल लेती है। यह विभाजन, देश के नक्शे पर खींची गयी भारत-पाकिस्तान की रेखा ही नहीं बल्कि वह रेखा है जो पहले कागज़ पर, फिर ज़मीन पर और अंततः पूरे देश-जीवन पर खिंच गयी जिसने हिन्दुओं को अधिक हिन्दू और

मुसलमानों को अधिक मुसलमान बना दिया।

'आधा गांव' के प्रथम परिच्छेद 'ऊंघता शहर' में पाकिस्तान की चर्चा एक हवाई कल्पना के रूप में आती है। गंगौली के बुज़ुर्ग अपने बाप-दादा का स्थान, इमामबाड़ा और खेती-बाड़ी छोड़कर पाकिस्तान जाने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी समझ में नहीं आता कि आज़ादी के बाद भारत के आठ करोड़ मुसलमान किस प्रकार अछूत रह जाएंगे? अंततः पाकिस्तान बन जाता है। गंगौलीवालों के अनुसार पाकिस्तान तो हिन्दू-मुस्लिम को अलग करने के लिए बना था। लेकिन उन्हें जल्द ही मालूम पड़ जाता है कि विभाजन ने उनके परिवारों को भी अलग कर दिया। गंगौली में बचे मुसलमान अकेलेपन के एहसास से पीड़ित हो जाते हैं। उपन्यास के 'तन्हाई' शीर्षक परिच्छेद में इसका वर्णन है। लोग विचित्र निराशा में जी रहे हैं। गांव के साधारण लोगों को राजनीतिक दाँव-पेंचों में रुचि नहीं थी। मुस्लिम लीग की विभाजनवादी नीति अनजाने ही गांव को झकझोरने लगी। न चाहते हुए भी गांव इस आग में सम्मिलित हो गया। परिणाम था देश का विभाजन, परिवारों का विघटन। गांव में रह गये लोग एकाकीपन तथा विपन्नता झेलने के लिए अभिशप्त बन गये। ये लोग विचित्र मोहभंग और पछतावे के दौर को झेलने के लिए विवश बन गये।

भारत विभाजन के पश्चात् ज़मींदारी व्यवस्था समाप्त कर दिये जाने का प्राविधान सामने आने पर पूरी व्यवस्था में हलचल मच गयी।

कांग्रेज़ से जुड़ा अविश्वास लोगों को यह तक सोचने पर विवश कर गया कि चूँकि ज़मींदार वर्ग ज़्यादातर मुसलमान हैं इसलिए उसने ज़मींदारी व्यवस्था समाप्त कर दी। 'आधा गांव' में कांग्रेज़ से मुसलमानों के दूर होने के कारण को उपन्यास के पात्र, राक़ी के माध्यम से उजागर किया है: "यह कांग्रेज़ हिन्दुओं की पार्टी है। चूँकि मुसलमान ज़मींदार ज़्यादा है, इसलिए यह ज़मींदारी ज़रूर ख़तम करेगी। त देहातन में मुसलमानों कै घर हैं? दाल में नमक की तरह त हैं"।[1] गंगौली के मुसलमान ने ज़मींदारी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए लीग की वोट किया।

गंगौली के मुसलमानों का आर्थिक आधार ज़मींदारी थी जिसके टूट जाने से उनकी सामाजिक और आर्थिक दशा समाप्त हो गयी। नई अर्थ-व्यवस्था ने नये सामाजिक संबंध दिये और गंगौली के मुसलमान इस दुख में डूब गये कि उनके सामने ज़मीन पर बैठनेवाले लोग अब बराबर बैठते हैं। कल तक जो लोग ज़मींदार थे, वे आज अपनी निर्धनावस्था में कर्ज़दार बन जाते हैं। देश की बदली हुई राजनीति के कारण निम्न जाति के लोग एम.एल.ए. तक बन जाते हैं। मुसलमानों को यक़ीन हो जाते हैं कि ज़मींदारी का अंत हो गया। पालकियों में बैठकर सैर करनेवाले अब पैदल ही रास्ता काटने के लिए मजबूर हैं। देहातों और कस्बों से ज़मींदारी व्यवस्था टूटने के बाद बड़ी संख्या में मुसलमान पाकिस्तान चले गये। पीढ़ियों से जिन्होंने कोई श्रम नहीं

---

1. राही मासूम रज़ा - 'आधा गाँव', पृ. सं: 5।

किया था वे अब अपनी 'प्रजा' के सामने कैसे काम करते, इसलिए यहां से जाने ही उनकी मजबूरी थी।

ज़माने से चली आयी ज़मींदारी और उसके सामाजिक-आर्थिक लाभ एक झटके में समाप्त हो गये। दरवाज़े वीरान दिखाई देने लगे। गांव की पुरानी संपन्नता विलुप्त हो गयी। घर में विचित्र विपन्नता व्याप्त हो चली। जब तक ज़मींदारी रही तब तक परंपरागत जीवन-प्रणाली भी रही। उसके टूटते ही ज़मींदार भी क्रमशः टूटते गये। उपन्यास के पात्र, अब्बू मियाँ अब अपनी बेटी, सईदा के पढ़ने और नौकरी करने पर अखरता नहीं। फुस्सू मियाँ शरु में व्यवसाय करने से कतराते थे लेकिन जूते की दूकान खोल देता है।

विभाजन के बाद, गंगौली में रुके मुसलमानों की मनःस्थिति का चित्रण 'आधा गाँव' उपन्यास में है। इन्हें अपने ही देश में ग़ैर-मुल्की समझा जाने लगा। उन्हें संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। जिन राजनीतिक उन्माद ने भारत को विभाजन के कगार पर पहुँचाया उसका स्वयं का स्वार्थ तो सिद्ध हो गया परन्तु हिन्दू-मुसलमानों के सदियों के संबंधों पर खरोंचें आने लगी। गंगौली के मुसलमानों के गले में पाकिस्तान की कटी हुई नाल फाँसी की तरह पड़ी हुई थी और "हर कैफियत अकेली थी। हर जज़्बा तनहा था। दिन से रात और रात से दिन का ताल्लूक टूट गया"।[1] एक अजीब तन्हाई का दर्द सबको घेर

---

1. राही मासूम रज़ा - 'आधा गाँव', पृ. सं: 291

लेता है। ज़मींदारी खत्म होना, जवान लड़कों का अपनी बीवी-बच्चों को बूढ़े बाप-दादों के कंधों पर छोड़कर कैरियर बनाने के लिए पाकिस्तान चला जाना उनकी तन्हाई के प्रमुख कारण हैं। एक ओर अपनी मिट्ठी न छोड़ने की तमन्ना और दूसरी ओर अपनी ही मिट्ठी अपने पैरों तले से खिसकती देखने के एहसास के बीच तनाव ही महसूस कर रहा था।

भारतीय मुसलमान अपने ही मुल्क में गुनाहगार बन गया, अपने ही देश में अपनी ही हार स्वीकार करता हुआ वह उपेक्षित होने लगा। स्वतंत्र भारत का प्रभात, घृणा और द्वेष के श्यामल मेघ से धिरा हुआ था। वह मुसलमान जो अपने देश की धरती के मोह में भारत छोड़कर नहीं गये, उन्हें अपनी ईमानदारी और अपनी देशभक्ति के लिए बार-बार जवाबदेह होना पड़ रहा था।

देश विभाजन से सबको घाटा हुआ, ज़्यादा घाटा तो उन देशभक्त मुसलमानों का हुआ जो पाकिस्तान नहीं चाहते थे। देश का बँटवारा ज़मीन पर न होकर दिलों पर हुआ। इसी कारण जाने-पहचाने चेहरे पराये हो जाते हैं और यही सूरतें तिल-तिल तड़पाती हैं।

राही मासूम रज़ा कृत 'ओस की बूँद' उपन्यास में गाज़ीपुर के मुस्लिम परिवारों की कथा है। पाकिस्तान निर्माण में उपन्यास के पात्र, हयानुल्लाह अंसारी और वजीर हसन का बड़ा योगदान है। लेकिन विभाजन के बाद वे दोनों भारत में रहने का निश्चय कर लेते हैं। वजीर हसन का इकलौता बेटा, अली बाँकर अपने पूरे परिवार को छोड़कर

पाकिस्तान चला जाता है। तो वजीर हसन अपनी गलती पहचान लेता है। वह कहता है "पाकिस्तान एक गलती है और मैं उस सरज़मीन पर मरना चाहता हूँ जहाँ मैने गलती की है"।[1] हिन्दुस्तान उनका घर है और घर नफ़रत और मुहब्बत से ऊँचा है। वजीर हसन अपने मन की वीरान बस्ती में अकेले रह गये। वह अपने लंगोटिया यार, दीनदयाल से पूछ बैठता है: "मैंने तो पाकिस्तान ठीक समझता था इसलिए मैंने उसके लिए कोशिश की लेकिन तुम तो पाकिस्तान को गलत समझते थे ना? फिर तुमने क्यों बनने दिया पाकिस्तान, बताओ?"[2]

'बीवी के कटरे' मंदिर वजीर हसन के पुरखों ने बनवाया था, जब वे हिन्दू थे। वह उस मंदिर में पूजा करना चाहता था और इसी कोशिश में मारा गया। शहला, अपने दादा की इच्छापूर्ति के लिए अदालत में केस भी दर्ज कर लेते हैं। वहशात जो एक वकील था वह सोचता है "मंदिर, मजार और घर। मंदिर-मजार के बोझ से घर की दीवारें बैठी जा रही है। स्कूल बंद है। बाज़ार खाली है। मुहल्ले जल रहे हैं। बस्तियाँ वीरान हैं, अस्पताल आबाद है। क्या एक मजार के लिए यह सब होने दिया जाए? और क्या हिन्दू सांप्रदायिकता से ड़रकर शहला अपने दादा की मजार न बनाए?"[3] यह सवाल पूरे हिन्दुस्तान के सामने अहम सवाल बनकर खड़ा है। चुनाव सामने आने के कारण राजनीति

1. राही मासूम रज़ा - 'ओस की बूँद', पृ. सं: 19
2. राही मासूम रज़ा - 'ओस की बूँद', पृ. सं: 29
3. राही मासूम रज़ा - 'ओस की बूँद', पृ. सं: 107

चुप थी। राजनीतिज्ञ सांप्रदायिक हमलों से फ़ायदा उठाते हैं, प्रोनोट की तरह चुनावों में उसे भुनाती है। धर्म, जाति व क्षेत्र की आड़ में पार्टियां जीनती हैं और सरकार बनाकर उन्हीं सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को परवान चढ़ाती है।

मुसलमान एक कटी हुई पतंग की तरह सारे भारत में डगमगा रहा है और कटी हुई पतंग तो लूटी ही जाती है। ऊहापोह की स्थिति में रहनेवाले मुसलमानों की अपनी कोई अलग से पहचान नहीं है। मुसलमान वह है जो इस देश का नागरिक है, चुनावों में वोट देता है, दंगों में मारा जाता है और जो इस बड़े देश के किसी क्षेत्र का नहीं है, वह केवल मुसलमान है। इसके सिवा उसकी कोई पहचान नहीं है।

विभाजन ने भारत में रह गये मुसलमानों के लिए अनेक समस्याएं पैदा कीं जिनमें सबसे दुखद मुख्यधारा से अलगाव-बोध था। बँटवारा भारतीय मुसलमानों के गलों में पड़ा फांसी का फंदा बन चुका था जो न पूरी तरह कसता था, न ढीला होकर छूटता था।

विभाजन के बाद भारतीय मुसलमान अपने अस्तित्व पर लगे प्रशनचीह्न से तड़प उठा। उसका यह अनुभव उसकी आत्मा को घायल कर रहा था कि उसे अपने देशप्रेमी होने के लिए प्रमाण देना होगा अन्यथा उसे देशद्रोही ही समझा जाएगा। अपने ही घर में बेघर होने का एहसास उसके सामने अजीब-सी विडंबना खड़ा कर रहा था। इन्हीं तथ्यों को नासिरा शर्मा रचित 'ज़िंदा मुहावरे' उपन्यास में व्यक्त

किया गया है। "यह तर्जुबा कितना तकलीफ़देह होता है कि जहां आप पैदा हो, जिस ज़मीन को आप अपना वतन समझें, उसे बाक़ी लोग आपका गलत कब्ज़ा बताएँ। कदम-कदम पर यह एहसास दिलाएं कि तुम यहां के नहीं, बाहर के हे।"[1] प्रेमपूर्वक रहनेवाले एक झटके में केवल हिन्दू और मुसलमान बनकर रह गये। दिशाएं स्तब्ध-सी इस घटना को मौन देख रही थीं।

विभाजन के वक़्त पाकिस्तान चले जानेवालों में उपन्यास का पात्र, निज़ाम भी शामिल था। बदलती परिस्थितियों में अपने आपको सफल रुप में जमाने के बावजूद भी वह भारत में छोड़ आये अपने परिवार की यादों में डूबे रहे। उनके दोस्त, सरफ़उद्दीन भारत से लौट आये और वहां के तनावभरी हालत का बयान देने लगे। उनके अनुसार, ज़मींदारी के टूटने के बाद मुसलमानों का बहुत बुरी अवस्था है। बहुत से मुसलमान फसादों में मर गये और जो बचे वे मामूली नौकरियां करके जीवन बिनाते हैं। यह सुनकर निज़ाम घबरा उठता है। लेकिन, अपने भतीजे को कलक्टर के रुप में देखकर वह पाकिस्तान में भारतीय मुसलमानों की दहशतभरी जीवन के बारे में आ रहे समाचारों के खोखलेपन से वाक़िफ़ हो जाता है।

बँटवारे के बाद भी अन्यास का पात्र, इमाम भारत में रहने का निश्चय कर लेता है। लेकिन शक़ का जो नाग दिमागों पर से

---

1. नासिरा शर्म - 'ज़िंदा मुहावरे', पृ. संः 101

गुज़रकर दिलों पर फन काढ़कर बैठ चुका था, उसकी सरसराहट की आवाज़ पहचानकर वह काँप उठता था। लोगों की निगाहों में उसने एक तिरस्कार का भाव देखा। लोगों के सामने अपनी ईमानदारी का कसमें खाना खुद को नंगा करना था। दिल को चीरनेवाली इस ज़ख्म की टीस के एहसास से इमाम का तनाव बढ़ने लगा। पाकिस्तान के ज़िक्र मात्र से वह परेशान हो उठता था। इमाम का बेटा, ग़यासउद्दीन कलक्टर बनना चाहता था। परीक्षा में उत्तीर्ण हुए अपने पुत्र के भविष्य के बारे में सोचकर इमाम तनावग्रस्त हो गया। उन्हें लगा कि विभाजन के बाद जिस तरह मुसलमान पुलिस और फौज की नौकरी में वर्जित समझे जाते हैं उसी तरह इस क्षेत्र से भी उनके बेटे को अलग कराया जाएगा। इमाम सभी अपमान को इस प्रतीक्षा में सहते रहे कि ज़माना बदलेगा और मुसलमानों पर उठी उंगलियां झुक जाएंगी। सारी दुनिया उनकी ईमानदारी को पहचानेगी। लेकिन मुसलमानों के विरोध में हो रहे फसादों से वह एकदम चौक उठा। धीरे-धीरे भारतीय मुसलमान भी लोगों के शक़ की नज़रों के बीच में से ही सही अपनी प्रतिष्ठा समाज में जमाने में सफल हुई। इमाम अपने बेटे को कलक्टर बनते देखकर अपनी सारी परेशनियों से दूर हो गया।

भारत विभाजन निश्चय ही एक ऐसी घटना थी जो ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट की तरह बहुतों को निगल गयी और उसका लावा आज भी प्रवाहवान है। मुल्क के बंटवारे की जिम्मेदारी मुसलमानों पर लागू

होने के कारण बहुत से लोग अपराधबोध और हीनभावना से ग्रस्त हो गये।

मंजूर एहतेशाम कृत 'सूखा बरगद' उपन्यास में स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय मुसलमानों की सामाजिक, मानसिक संघर्षमय स्थिति को चित्रित किया गया है। उपन्यास के केन्द्र में सुहैल है जिसके परिवार भारत में ही टिक जाता है। असुरक्षा-भाव से ग्रस्त सुहैल धीरे-धीरे हीनता ग्रन्थि का शिकार हो जाता है। इस उपन्यास का केन्द्रीय स्थान भोपाल है। यहाँ हिन्दू-मुसलमान भाईयों की तरह रहते थे। बाँटवारे के समय भी लोग प्रेमपूर्वक रहा लेकिन 1960 के बाद सारा शहर नफ़रत की आग में जलने लगा। विभाजन के बाद यहां रह गये मुसलमानों में यह ड़र प्रारंभ से था कि उन्हें बहु-संख्यक समाज द्वारा पाकिस्तान-निर्माण के ज़िम्मेदार माना जाएगा। राजनेताओं के आश्वासनों के बावजूद उन्हें अपने अस्तित्व की असुरक्षा का भय बराबर सताता रहा। दंगों ने निश्चय ही उनके ड़र को पुख्ता और प्रामाणिक बनाया। प्रगतिशील मुसलमान इस हादसे से दंग रह जाते हैं लेकिन आम मुसलमान सशस्त्र होकर अपने को सुरक्षित रखने की कोशिश करते हैं।

मुसलमान के असुरक्षा-भाव का पहला कारण दंगों में हुए व्यापक खूनखराबा है। 'सूखा बरगद' के असगर साहब नामक पात्र एक साँस में ही विकास कार्यों का विरोध, नेहरु जैसे धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति को साँप्रदायिक करार देना और ज़बरदस्ती सुअर खिलाने का आराप-ये

सब आम मुसलमानों को प्रभावित करते हैं। उपन्यास में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि दो क़ौमों के सिद्धांत पर बना पाकिस्तान आज भी भारतीय मुसलमानें के लिए अच्छी खासी मुसीबत है। जब कभी पाकिस्तान से युद्ध छिड़ा, भारतीय मुसलमान की देशभक्ति संदेह में आ गयी। युद्ध के दिनों में आम मुसलमानों को यह साबित करना था कि उसका मुल्क हिन्दुस्तान है और वह स्वयं हिन्दुस्तानी है। पाकिस्तान से हमदर्दी इसी एहसास की प्रतिक्रिया है।

सुहैल नामक पात्र के अनुसार मुसलमानों में 'सेल्फ़-कांफिडेन्स' आ जाने के लिए उतनी इज़्जत नहीं दी गयी। तरस खाने और घृणा का भाव सुहैल जैसे संवेदनशील युवा को बार-बार चुभता है। असगर, रजब अली जैसे लोग इसी चुभन का अपने स्वार्थों के लिए दुरुपयोग करते हैं। इस स्थिति में पहुँचने के लिए कुछ तो व्यवस्था की ख़ामियां ज़िम्मेदार हैं और ज़्यादातर भारतीय मुसलमानों की अपने तक सिमटी हुई मानसिकता ज़िम्मेदार है। उनके कुछ आरोप वास्तविक है तो कुछ कल्पित और बेबुनियाद हैं। रहीम मियाँ, अफ़ीम की स्मगलिंग में पकड़े जाते हैं तो सब इस घटना को मुसलमानों की नियति से जोड़ते हैं। जब इंजीनियरिंग कॉलेज से प्रो. रज़ा को निकाला जाता है तो इसका कारण उसका मुसलमान होना मानता है। सुहैल की शादी एक हिन्दू लड़की से न होने पर वह सामाजिक-धार्मिक पक्षों को समझने के बजाय सीधी सपाट राय बना लेता है कि ऐसा उसके मुसलमान अर्थात् 'सेकन्ड

क्लास सिटिसन' होने के कारण हुआ। इस सोच में क्षोभ, अपमान, गुस्से की इंतिहां यहां तक पहुँची है कि यह मुल्क उसे अपना नहीं लगता।

दंगे शुरु होने पर मुसलमानों में 'भय' बनता है और लगता है कि 'इस्लाम खतरे में है'। इस ड़र को बढ़ाने में मुस्लिम नेताओं का योगदान कम नहीं है। उपन्यास के रजब अली नामक पात्र मुल्क के वफ़ादार मुसलमानों के हित के लिए एक दल बनाता है। यही नेता एक दिन जनसंघ में शामिल हो जाता है और सुहैल जैसे उनके प्रशंसक स्तब्ध रह जाते हैं। यह घटना सुहैल को और कट्टर तथा सांप्रदायिक बना देती है। वह इस देश में मुसलमानों की नियति देखकर पूरी तरह निराश है। 'सूखा बरगद' उपन्यास में मुसलमान मध्यवर्ग के ड़र, असुरक्षा-भाव और उसकी अलग आइडेंटिटी बनाए रखने की कोशिश का वर्णन किया है। उपन्यास इस आशावादी दृष्टि से समाप्त होता गया है कि 'आपसी नफ़रत का यह खेल ज़्यादा दिनों तक नहीं चलेगा'।

विभाजनोपरांत भारत के मुसलमान बार-बार आहत हुए और उनका गुस्सा न खत्म होनेवाले 'ड़र' में परिवर्तित हो गया। 'ड़र' एक हीनता-ग्रन्थि को जन्म देता है और प्रतिक्रिया में कछुए की तरह अपने खोल में सिमटने की मनःस्थिति बनाता है। भारतीय मुसलमान स्वयं को अपनों के बीच अजनबी महसूस करने लगे। बँटवारे ने उनके प्रति नफ़रत की एक फौलादी दीवार खड़ी कर दी। 'सूखा बरगद' उपन्यास

में विभाजन के साथ जुड़ी मुसलमानों की भावना विशेषतः स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में असुरक्षा का एहसास बहुत व्यापक रूप में व्यक्त है। भीतर ही भीतर राख के नीचे दबी पड़ी भय की चिंगारी को दंगे अपनी हवा में भड़काकर लपटों में बदल देते हैं। इन लपटों में अक्सर जो झुलस जाता है वह भारतीय मुसलमान का अपना विश्वास होता है।

भारत को अपनी ज़मीन समझकर यहां बस गये मुसलमानों की देशभक्ति को शक़ की नज़रों से देखा गया तो यह उनके लिए तिलमिला देनेवाला एहसास था। जंग के दिनों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारतीय मुसलमान से बहुसंख्यक समाज यह माँग करता था कि वह अपने आपको हिन्दुस्तानी प्रमाणित करे। देश की धरती के प्रति भावुक रूप से जुड़े मुसलमान के लिए यह उसकी ईमानदारी पर लगायी गयी बहुत गहरी चोट सिद्ध होती थी। इसकी तीव्र प्रतिक्रिया पाकिस्तान के प्रति हमदर्दी के रूप में भारतीय मुसलमान के भीतर धीरे-धीरे आकार ग्रहण कर बड़ी होती है। 'सूखा बरगद' में इस विडंबना को पूरी सहस्थिति के साथ उभारता है। उपन्यास के पात्र, रशीदा पाकिस्तान के प्रति हमदर्दी का भाव भीतर पालती है। उन्हें लगती है कि उसकी सोच एक गुनाह है। यह हमदर्दी वास्तव में उन लोगों से बदला लेने की है जो मुसलमानों को कनखियों से देखते हैं और उनके आते ही बात का टॉपिक बदल देते हैं।

भारत-पाक विभाजन ने आपसी संबंधों में भी दरार खींच दी।

मुसलमानों का भारत में रह जाना सामान्य हिन्दू वर्ग को स्वीकार न था। हिन्दूवादी संस्थानों ने यह प्रचार किया कि भारतवर्ष पूर्ण रूप से हिन्दुओं का है जबकि मुस्लिम समुदाय के अनुसार मुसलमान सदियों तक हिन्दुस्तान में राज कर रहे थे इसलिए अंग्रेज़ी हुकूमत के बाद मुस्लिम राज्य क़ायम करना उनका कानूनी हक़ है। इस सोच की वजह से साँप्रदायिक दंगों में तीव्रता आयी।

देश-विभाजन के पश्चात् दोनों देशों के बीच लगी द्वेष की आग बुझ न सकी जिसका ऋण निरपराध भारतीय मुसलमानों को समय-समय पर भोगना पड़ा, पड़ रहा है। पाकिस्तान द्वारा उठाये जा रहे विरोधी कदमों का प्रभाव भारतीय मुसलमानों पर पड़ता है। इसी सत्य को राही मासूम रज़ा ने अपने उपन्यास 'टोपी शुक्ला' में उजागर किया है। "क्या वह कल तक हमारे ही देश का एक अंग नहीं था? मेरा दिल पाकिस्तान में लगा रहता है क्योंकि उनकी बेवक़ूफ़ियों से हिन्दुस्तानी मुसलमानों को नुकसान होता है।"[1] भारत विभाजन के बाद पूरा देश साँप्रदायिकता की ज्वाला में झुलस रहा था। आज़ादी की सुबह भी नफ़रत, उदासी और दंगों को साथ लेकर आयी थी। बरसों से साथ रहे दोस्तों का दृष्टिकोण भी हिन्दू-मुस्लिम हो गया। इस उपन्यास में मित्रों के बीच विभाजन के पश्चात् जगे भाव का मार्मिक वर्णन है। इफ़्फ़न और टोपी शुक्ला गहरे दोस्त थे लेकिन विभाजन के बाद दोनों के मन में वे

---

1. राही मासूम रज़ा - 'टोपी शुक्ला', पृ. सं: 103

सिर्फ हिन्दू और मुसलमान रह जाते हैं।

बलभद्र नारायण शुक्ला को उनके साथी 'टोपी शुक्ला' कहकर पुकारते हैं। जब वह यूनिवर्सिटी में आया तो जनसंघी थे और बाद में मुस्लिम लीग हो गये। फलस्वरूप, टोपी शुक्ला न हिन्दू रहा न मुसलमान। टोपी को बचपन से यह शिक्षा दी गई कि मुसलमान लोग बुरे होते हैं। लेकिन उसका पहला दोस्त, इफ़्फन मुसलमान ही था। विभाजन की त्रासदी एवं दंगों के भयावह परिणामों को झेलकर दोनों जवानी की दहलीज़ तक पहुँचते हैं। इफ़्फन मुस्लिम विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बन जाता है और वहीं उनकी मुलाकात लंबे अरसे के बाद टोपी शुक्ला से हो जाती है। प्रगतिशील होने के कारण अलीगढ़ के एक हिन्दू कॉलेज में टोपी को जगह नहीं मिलता और हिन्दू होने के कारण इस्लामिया कॉलेज से भी टुकरा जाता है। उन्हें लगा कि देश के प्रशासनिक ढाँचे में सांप्रदायिक भेदभाव की जड़ें काफ़ी गहरी पैठ चुकी हैं। परछाईयां हिन्दू-मुसलमान बन गयी थीं और आदमी अपनी ही परछाईयों के ड़र से भाग रहा था। इफ़्फन के घर टोपी का आवागमन चलता रहा और इस हिन्दू-मुसलमान संबंधी चर्चा से छुटकारा पाने के लिए टोपी, इफ़्फ़न की पत्नी सकीना से राखी बाँधने के लिए कहता है। पुराने घावों को कुरेदती हुई सकीना परेशान हो उठती है। सकीना के पिता, दो भाईयों तथा उनके राखीबंद भाई, महेश साँप्रदायिक उन्माद के शिकार थे। इन मानसिक प्रहारों ने सकीना के मन में भारत-

पाकिस्तान के प्रति गहरी नफ़रत भर दी। टोपी एवं सकीना के काल्पनिक संबंध से हुई आर्थिक एवं सामाजिक हानि ने तीनों को अंदर से तोड़ दिया। इफ़्फ़न जम्मू में नौकरी पाकर परिवारसमेत चला जाता है। पीछे रह जाता है अकेला, निराश-सा टोपी। टोपी के बचपन से लेकर जवानी तक इस मज़हबी संसार ने केवल उसे तिरस्कार, उपेक्षाएं एवं ज़ख्म ही दिया है। परिस्थितियों से 'कम्प्रोमाईज़' न कर पाने के कारण टोपी शुक्ला आत्महत्या कर लेता है।

'टोपी शुक्ला' उपन्यास के तहत यह सूचना भी दी जाती है कि भारत में नौकरियां जाति-पांति के आधार पर दी जाती है, केवल योग्यता के आधार पर नहीं। "यहां कुंजड़ों, कसाइयों, सय्यदों, जुलाहों, राजपूतों, मुस्लिम राजपूतों, बारहसेनियों, अगरवालों, कायस्थों, ईसाइयों, सिक्खों... सभी के लिए कम या अधिक गुंजाइश है। परन्तु हिन्दुस्तानी कहाँ जाएं? लगता ऐसा है कि ईमानदार लोगों को हिन्दू-मुसलमान बनाने में बेरोज़गारी का हाथ भी है।"[1] नौकरी की समस्या एक दोधारी तलवार है। एक तरफ से हिन्दुओं को मुसलमानों से काटती है और दूसरी तरफ़ मुसलमानों को हिन्दुओं से। मुसलमान लड़कों के दिल में दाढ़ियां और हिन्दू लड़कों के दिलों में चोटियां उगने लगीं। यह लड़के फ़िज़िक्स पढ़ते हैं और कापी पर 'ऊँ' या 'बिस्मिल्लाह' लिखे बिना सवाल का जवाब नहीं लिखते। पी.एच.डी. पूरी करने के बाद टोपी

1. राही मासूम रज़ा - 'टोपी शुक्ला' पृ. सं: 13

शुक्ला कई शिक्षण संस्थाओं में अध्यापकी के लिए निवेदन करता है। उसे कहीं 'हिन्दू' होने के कारण और कहीं 'मुस्लिम विश्वविद्यालय' में पढ़ने के कारण नौकरी नहीं मिलती। उनका व्यक्तित्व चूर-चूर हो जाता है।

स्वतंत्रता के बाद, राजनीति ने भारतीय हिन्दू-मुसलमानों के बीच गहरी दरार डाल दी थी। इस दरार को दोनों क़ौम महसूस कर रहे थे। इफ़्फ़न की पत्नी, सकीना हिन्दुओं से नफ़रत करती थी क्योंकि उनके परिवार दंगों के शिकार हुए थे। वातावरण में फैले ड़र और अविश्वास को महसूस करके सकीना इस प्रकार कहती हैः "नफ़रत, ड़र, शक़ - इन्हीं तीन डोंगियों पर हम नदी पार कर रहे हैं। यही तीन शब्द बोये और काटे जा रहे हैं। यही शब्द दूध बनकर माँओं की छातियों से बच्चों के हलक़ में उतर रहे है। आवारा रुहों की तरह ये तीन शब्द आँगनों में मंडरा रहे हैं। चमगादड़ों की तरह पैर फड़फड़ा रहे हैं और रात के सन्नाटे में उल्लुओं की तरह बोल रहे हैं। काली बिल्ली की तरह रास्ता काट रहे हैं।"[1]

टोपी शुक्ला के मत में भारतीय मुसलमान कटी पतंग की तरह डग मार रहा है। वह अपने मूल से उखड़ा-उखड़ा महसूस कर रहा है। इफ़्फ़न के अनुसार, "पाकिस्तान एक बेनाम ड़र का नाम है। हर मुसलमान ड़रा हुआ है। एक बड़े मुल्क को ड़र जैसे दो लफ़्जों ने

---

1. राही मासूम रज़ा - 'टोपी शुक्ला' , पृ. सं: 76

डाकुओं की तरह पकड़ रखा है।"[1]

मेहरुन्निसा परवेज़ कृत 'पासंग' उपन्यास के दो बुज़ुर्ग औरत विभाजन के तहस-नहस देखकर परेशान थीं। वे भारत छोड़कर जाना नहीं चाहते। चारों ओर से लोगों को ज़बरदस्ती पाकिस्तान भेजने की ख़बर सुनकर वे दोनों बारिश के बावजूद भी अपने घर के मरमत करने से हिचकिचाते हैं। अपने पुरखों की गढ़ी छोड़कर दूसरे देश में जाने से अच्छा उन दोनों के लिए इसी ज़मीन पर मरना है। आज इन्सानों ने जंगली जानवरों की खाल ओढ़कर सबको ड़रा रहा है। एक मृत्यु होने पर लोग पहले यह पूछते हैं कि मुर्दा हिन्दू है या मुसलमान? उपन्यासकार के अनुसार धर्म की नींव पर रखा राज्य हमेशा खोखला होता है।

पारिवारिक स्थिति

'आधा गाँव' उपन्यास के द्वारा रही मासूम रज़ा विभाजनोपरांत भारत के मुसलमानों की पारिवारिक स्थिति प्रस्तुत करते हैं। विभाजन के बाद, गंगौली गांव की युवा पीढ़ी अपना देश छोड़कर पाकिस्तान चले जाती है, लेकिन बुज़ुर्ग लोग यहीं रह जाते हैं। ज़मींदारी उन्मूलन से उत्पन्न कर्ज़ से उनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। परिवर्तित परिस्थितियों से कुछ लोग समझौता करते हैं, जो नहीं कर पाते, वे टूट जाते हैं।

भारत-पाक विभाजन से उत्पन्न पारिवारिक विघटन-बिखराव के

---

1. राही मासूम रज़ा - 'टोपी शुक्ला', पृ. सं: 155

फलस्वरूप घर के बूढ़े माता-पिता ज़िंदगी की तन्हाई, अपने बच्चों द्वारा त्यक्त पत्नी व मासूस बच्चों की देखभाल आदि कई विवशताओं के अनायास शिकार हो गये। कल तक जिन बुज़ुर्गों का सम्मान होता था, आज अवज्ञा, अपमान, अकेलापन, पारिवारिक परेशानियों से उनकी दुर्दशा हो गयी।

मुस्लिम समाज की अधिकतर युवतियाँ शादी की उम्र के कगार पर हैं। लेकिन योग्य-अयोग्य युवक प्राप्त नहीं होते। तमाम इंजीनियर, डॉक्टर तथा अन्य पढ़े लिखे लड़के पाकिस्तान चले गये। अतः कुँवारापन उनके जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन जाता है। एक अवर्णनीय, असहनीय पीड़ा लिए सपति त्यक्ताएँ समाज में अनाश्रित हो गई हैं। उनकी संतानें अनाथ बनी अपने धुंधले भविष्य की ओर हसरतभरी निगाहों से ताक रहे हैं।

देश का बँटवारा होने पर सबके मन में भय और आतंक अपनी दानवी पंजे फैलाकर छाया था। अंधकारमय भविष्य ने सबको विचलित कर दिया था। देश में हर तरफ़ हवा में ज़हर-सा घुल गया। अराजकता और अव्यवस्था फैल गयी। घरों से उठती रोने की आवाज़ जाने कितने घरों की दीवारों को कंपा देती थी, सहमा देती थी। मेहरुन्निसा परवेज़ कृत 'पासंग' उपन्यास के पात्र, दादी के अनुसार पाकिस्तान ने घर-घर धतूरे का बीज बोना शुरू कर दिया।

बँटवारे के बाद, सुन्नी लड़के पाकिस्तान चले जाने के कारण

वैवाहिक समस्याएं उत्पन्न हो गयीं। विवाह तय होने पर परिवारों में लड़का-लड़की को कुछ छूट-सा मिल जाता था। इसका लाभ उठाकर कुछ लोग शारीरिक संबन्ध की स्थिति तक बढ़ गये। लेकिन, पाकिस्तान बनने पर मंगेतर चले गये और लड़कियाँ गर्भवती होकर रह गयीं। 'पासंग' उपन्यास का बानोआपा ऐसी एक बदकिस्मत औरत है जो बहुत ही मुश्किलों का सामना करके जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर हुई। जो खानदान भारत में रह गये, वे गरीब मजबूर लोग थे। लड़कियों को दो वक़्त की रोटी देने में असफल बने लोग उनकी शादी दूसरी जमातों के लड़कों के साथ कराने का फैसला लिया।

देश-विभाजन के साथ अनेक परिवार भी बँट गये। कितनों के दिल टूट गये, कितने लोग घर से बेघर हो गये, कितनों के सहारे छीन गये-इसका हिसाब किसी सरकार के पास नहीं था। ज़मीन-जायदाद का हिसाब तो पटवारी खाते में मिल सकता था पर कितनों के दिलों कि बस्तियाँ बरबाद हुईं, कितनों के अरमानों का महल ढह रये, इसका हिसाब किसी पटवारी खाते में नहीं था।

इस प्रकार समकालीन उपन्यास-साहित्य में विभाजन और इससे जुड़े विस्थापन की अभिव्यक्ति महज़ एक घटना के रुप में नहीं, बल्कि एक जलते-सुलगते अलात-चक्र के रुप में हुई है जो लगातार घूम रहा है। इस त्रासदी के सैकड़ों पहलू हैं, एक पकड़ता हैं तो दूसरा छूट जाता है। फिर भी उपन्यासकारों ने इन पहलुओं को संवेदनात्मक और वैचारिक

आधारों पर प्रामाणिकता और तटस्थता के साथ चित्रित किया है। इन उपन्यासों को विभाजन की राजनीतिक त्रासदी का मानवीय और मनोवैज्ञानिक दस्तावेज़ भी कहा जा सकता है। यह भी है कि इतिहास में साफ़ - साफ़ दिख रहे 'गैप्स' को भरने में और इतिहास को व्यवस्थित और अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक बनाने में इन उपन्यासों में फैली स्मृतियों और अंतःकथाओं से मदद मिल सकती है। बहुल स्तरोंवाले भारतीय विभाजन जैसे एक हादसे को कलात्मक- रचनात्मक धरातल पर पुनर्जीवित और पुनःसृजित करनेवाला यह रचनात्मक उन्मेष भारतीय साहित्य में निश्चय ही अपनी अलग पहचान बनाता है।

पाँचवाँ अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास में विकास योजनाओं से उत्पन्न विस्थापन।

भूमिका :

भारत में आदिवासी जनसमूहों का विस्थापन व पलायन सदियों से पहले से ही ज़ारी है परन्तु विकास के नाम पर बरती गई नीतियों के कारण वे केवल अपनी ज़मीनों, जंगलों, संसाधनों व गाँवों से ही बेदख़ल नहीं हुए बल्कि उनके मूल्यों, नैतिक अवधारणाओं, जीवनशैली, भाषा एवं संस्कृति से भी विस्थापित हुए। सरकारी हस्तक्षेप व नीतियों के साथ तथाकथित सभ्य समाज द्वारा उनपर हुए अत्याचार भी उनके विस्थापन का मुख्य कारण बन गया। सरकार द्वारा 1998 में भूमि अधिग्रहण संशोधन विधेयक, पुनर्वास बिल, फारेस्ट बिल लाए गए। भूमि- अधिग्रहण संशोधन विधेयक तो विस्थापन की प्रक्रिया को तेज़ कर बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मनचाही ज़मीन जल्दी से जल्दी उपलब्ध करवाने के उद्‌देश्य में लाया गया। इसके कारण झारखंड में 50 एकड़ भूमि पर 15 लाख लोग विस्थापित हुए जिनमें 41.27% आदिवासी हैं। रक्षा परियोजनाएं और जल संसाधन परियोजनाओं से विस्थापित हुए आदिवासियों की संख्या क्रमशः 89.7% और 75.2% हैं। कोयला खदानों का राष्ट्रीयकरण हुआ तो पुरानी खदानों के साथ खाली पड़ी ज़मीन भी कोयला कंपनी ने बिना नोटिस दिये कब्ज़ा कर ली।

औद्‌योगीकरण, सिंचाई परियोजनाओं एवं थर्मल पावर स्टेशनों के

निर्माण के लिए सरकार ने निजी व सरकारी संस्थानों के लिए भारी मात्रा में ज़मीनों का अधिग्रहण किया और लाखों लोग विस्थापित हुए। सिंचाई के लिए बनाए बाँधों के कारण हज़ारों गाँव डूब गए। कोयला खदानों में मशीनीकृत ओपन कास्ट खनन प्रणाली के चलते खेत उजड़ गए और जंगल कट गए। भारी विस्फोटों के कारण पानी के स्रोत या तो सूख गए या उनकी धार बदल गई। कुएँ धँस गए और खेत गड्ढे बन गए। औद्योगीकरण, खनन, विद्युतीकरण सब-के-सब खेतों के कब्रगाह बन गए जिसके कारण गाँव के रोज़गार भी समाप्त हो गया।

भारतीय समाज की संरचना और उसके विकास की प्रक्रिया में इतनी अधिक असमानता रही है कि बहुत सारे समुदाय वंचित रह गये। परिणामतः वे लोग समाज की मुख्यधारा के हाशिए पर चले गये। यह प्रक्रिया इतने सूक्ष्म स्तर की रही कि लोग इस बात को जान ही नहीं पाये कि वे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर भी हाशिये पर जी रहे हैं। भारतीय जनजातियों के साथ यही हुआ। प्रभु वर्ग का आतंक, बार-बार स्थान परिर्वतन के कारण जीवन में स्थायीपन का अभाव - इन दोनों समस्याओं ने उनके जीवन को जटिल और विषमतापूर्ण बना दिया। वे विकास की सारी प्रक्रियाओं से वंचित रह गये।

आज़ादी के बाद, देश - भर में बहुत बदलाव आए। लेकिन आदिवासी क्षेत्रों में बहुरुपीय विद्रूपताएं इस क़दर खुमसती चली जा रही है जिससे भविष्य के प्रति सोचकर ही कँपकँपी छूटने लगती है।

जनजातियों की भूमि उनके हाथों से फिसलती जा रही हैं, वे भूख से बिलबिला रहे हैं। कहने के लिए उनका कुछ भी नहीं हैं, न जल संसाधन, न ज़मीन और न ही जंगल। ज़िंदगी बचाने के लिए उन्हें हर कदम पर हर तरह के समझौते करना पड़ रहे हैं।

जनजाति और उनकी समस्याएँ

भारत की पूरी आबादी का आठवाँ भाग आदिवासी हैं जो देश के पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में आबाद हैं। ऐसी मान्यता है कि औपनिवेशिक युग के पहले आदिवासियों की अपनी स्वायत्तता थी, संसाधनों पर उनका अधिकार था। भक्ति आंदोलन का प्रभाव इस समाज के कुछ तबकों पर पड़ने के कारण संस्कृतीकरण की प्रक्रिया भी शुरू हो गयी थी। औपनिवेशिक युग के प्रारंभ के साथ यह सब बदल गया। उनका शोषण और उनके प्रति अन्याय बढ़ता गया। उनके संसाधनों पर दबाव पड़ने लगा, उनकी स्वायत्तता ख़त्म हो गई। फलस्वरुप आदिवासी-विद्रोह शुरू हुआ। इस अवधि में ईसाई धर्म का आगमन हुआ जिसने आदिवासियों में शिक्षा का प्रचार, स्वास्थ्य सुधार और जागरण के लिए अनेक काम किए। भारतीय जनजाति विभागों में बैगा, भील, गोंड, संथाल, मारिया, कमार, भारिया, भालेर, कोल जैसे समुदायों ने हिन्दू धर्म और अनुष्ठानों को अपनाने के साथ मराठी और बंगला भाषा के विभिन्न रुपों को भी स्वीकार किया। ब्रिटिश काल में कुछ जनजाति समूह ने ईसाई धर्म अपनाने के कारण पाश्चात्य संस्कृति के संपर्क में

आये तथा उनका समुचित विकास भी हुआ। इसी कारण मध्यप्रदेश, दक्षिण भारत और उत्तर-पूर्वी राज्यों के अनेक आदिवासी समुदाय अपनी कृषि-व्यवस्था में सुधार लाने में सफल हुए। उड़ीसा के राजगोडो जनजाति इसका उदाहरण है। इन विकसित समुदायों के समानांतर आज भी अनेक ऐसे आदिवासी समूह हैं जो विकास की प्रक्रीया से कोसों दूर हैं। बिहार की असुर जनजाति तथा दक्षिण की नीलगिरि पर्वत की टोड जनजाति इसके उदाहरण हैं। स्पष्टतः भारत के जनजाति समूह अपनी ठहरी हुई अर्थव्यवस्था के कारण शेष समाज से अलग-थलग पड़ने के लिए विवश हैं। आज भी उनकी कई ऐसी परंपराएँ हैं जो शेष भारतीय समाज के लिए कौतूहल, जुगुप्सा और भय का कारण बनी हुई हैं। इसीके चलते बहुलांश समाज उन्हें स्वीकारने तथा संवेदनात्मक तादाम्य स्थापित करने से परहेज करता है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, भारतीय संविधान ने आदिवासियों की सुरक्षा और विकास के लिए अनेक प्रावधान किए। इसके बावजूद, आदिवासियों के शोषण और उनके संसाधनों का दोहन, चलता रहा, बल्कि इसने और भी विकराल रुप धारण कर लिया। भारत सरकार ने इन मामलों को सुलझाने केलिए अनेक कार्रवाइयां कीं। उत्तरपूर्व में अनेक आदिवासी राज्य बनाए गए। झारखंड, उत्तरांचल और छत्तीसगढ़ में आदिवासियों का प्रतिशत अधिक है। लेकिन ऐसे सकारात्मक पहलुओं के बावजूद आदिवासी समस्या गंभीर होती जा रही है।

जनजाति, हमारे समाज के, हमारी ज़मीन के सबसे पुराने, सबसे दमदार और प्रकृति से सबसे अच्छा संबंध रखकर जीनेवाले लोग हैं। देश में विकास का क्रम कबसे शुरू हुआ है उसकी मार सबसे ज़्यादा जनजातियों ने उठायी है। इन वनवासियों की पुश्तैनी ज़मीन, टोला और वनदेवता लीलने के बाद, विकास का तक्षक इनके अस्तित्व को भी डँस रहा है। तभी तो आज़ादी के बाद, भारत के लगभग दो करोड़ आदिवासी विस्थापित होकर नारकीय जीवन जीने को मजबूर हुए हैं।

भारतीय जनजातियों की ज़िंदगी जितनी सरस-सहज और सरल है, वहाँ की समस्याएँ उतनी ही ज्वलंत और जटिल हैं। भारत के सवा आठ करोड़ आदिवासियों की समस्याओं के प्रति शासन और प्रशासन द्वारा ओढ़ी गई चुप्पी नीतिनियंताओं की विवशता कम, विमुखता कहीं ज़्यादा दिखती है। जंगल और प्रकृति से सहजीवि संबंध रखने के एवज में सरकार प्रायोजित आतंक, पिटाई , बंदूकों की गूँज और जेलों की प्रताड़ना-आज़ादी के बाद वन्य समाज के साथ ऐसे ही बर्ताव हो रहे हैं। उन पर आरोप है कि वे जंगल काट रहे हैं, जड़ी-बूटियों की तस्करी करवा रहे हैं और दुर्लभ प्रजाति के पशु-पक्षियों की हत्या कर रहे हें। लेकिन आदिवासियों की संपूर्ण ज़िंदगी जंगलों से जुड़ी हैं। इससे अलग होकर उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

पुरखों को देवता मानकर पूजनेवाले आदिवासी, सभ्य समाज द्वारा असुर, ज़ाहिल, गँवार या अर्धमानुष माने जाते रहे हैं। अपनी

शासन-प्रणाली को नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले बाहरी तत्वों के आगे बहुलांश जनजाति समाज ने अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखा। लेकिन वे भारतीय समाज से अलग-थलग पड़ते गये। उनके संसाधनों का उपयोग कर समाज के ज़मींदारों, साहूकारों और उद्योगपतियों ने इन आदिवासियों का जानलेवा और अमानवीय शोषण किया। आदिवासियों को उनकी जीविका के साधन-स्रोतों से दूर किया जा रहा है। उनसे उनकी आवास-भूमि छीनी जा रही हैं जिसे कई लोग देशी उपनिवेशीकरण भी कहते हैं। भारत की 90 प्रतिशत कोयला खानें, 72 प्रतिशत वन और अन्य प्राकृतिक संसाधन और 80 प्रतिशत अन्य खनिज पदार्थ आदिवासी भूमि पर पाए जाते हैं। अपनी नदियों और ज़मीनों के अधिकार भी उनसे छीन लिये गये। विकास कार्यों के चलते जनजातियों को अपनी आजीविका के साधन-स्रोतों से हाथ धोना पड़ा। विकास परियोजनाओं के कारण कुल 1 करोड़ 85 लाख के विशाल परिमाण में जनजाति - विस्थापन के बावजूद सरकार के पास उनके लिए कोई समान पुनर्स्थापन और पुनर्वास नीति नहीं है।

नई शताब्दी में जनजातियों की समस्याओं के प्रति जागरुकता बढ़ने के साथ उनकी समस्याएँ भी अधिक जटिल होती जा रही हैं। उनके संसाधनों का अधिग्रहण और हस्तांतरण इसी तरह जारी रहेगा तो इस संघर्ष में भारत की छोटी अतिप्राचीन जनजातियां संभवतः विलुप्त हो जाएगी।

विकास कार्यक्रम और भारतीय जनजाति।

विकास, इंसान की मूलभूत ज़रुरत है। विकास का मतलब है - सड़कें, बाँध, कल - कारखाने और बड़ी-बड़ी परियोजनाएं। विकास,कागज़ों पर नहीं होता और न ही इसे आकाश में लहराया जा सकता है बल्कि यह ज़मीन पर ही संपन्न होता है। वास्तविक विकास का ज़मीनी यथार्थ यही है। पर आज की परिस्थिति में विकास एक ऐसा शब्द है जो बेहद विवादास्पद और आतंककारी रुप ले चुका है। बीते पचास-साठ वर्षों से परियोजनाओं के नाम पर जिस तरीक़े से इंसानी आबादी दर -बदर हुई है तथा साँस्कृतिक विरासत को नुकसान पहुँचा है या जैव संपदाओं का नाश हुआ है, उसकी वजह से विकास के नागदंश की आशंका मात्र से लोग आंदोलन की राह चुनने के लिए कमर कस लेते हैं।

विकास का जो एजण्डा आज़ाद भारत में बना गया था, उसमें औद्योगिक विकास और कृषि क्रान्ति के संकल्प थे। कल-कारखाने, बाँध, सड़कें -रेलमार्ग आदि तेज़ी से अस्तित्व में आते चले गए। किन्तु विकास के जो अध्याय रचे गए, उनका भारी असर जंगलों पर पड़ा। विकास की बेरहम मार से जंगल चौपट हो गए। जैव संपदाओं को व्यापक नुकसान पहुँचा। सदाबहार जंगल बंजर में बदल गया।

प्रकृति का जो सरल रुप है उनको पिछले सौ - डेढ़ सौ सालों में जटिल बनाने का प्रयास किया जा रहा है। उनमें से कई रुप हमारे सामने हैं और हरेक ने समाज को चोट पहुँचाई है। दरअसल, आधुनिक

दुनिया बनाने के लिए विस्थापन को हथियार बनाया गया है। अगर सौ लोगों का कल्याण हो रहा है तो दूसरी ओर कम से कम पाँच लोग विस्थापित हो रहे हैं। एक अनुमान के मुताबिक अभी देश-भर में तीन दर्जन से कहीं ज़्यादा ऐसी परियोजनाएं अस्तित्व में हैं जिनसे सीधा नुकसान हमारी जैव संपदा को पहुँच रहा है। आनेवाले पाँच वर्षों में करीब चार दर्जन से अधिक परियोजनाएं जंगलों में लगायी जाएँगी जिनसे भारी विनाश की आशंका है।

विस्थापन, वर्तमान भारत में जनजातियों की मुख्य समस्या बन रही है। सदियों से उन्हें खदेड़ दिया जाता है बस रुप या तरीक़ा बदल गया है। जंगल, जल,ज़मीन - इन तीनों महत्वपूर्ण मूल अधिकारों से वे वंचित हो रहे हैं। विडंबना यह है कि ये सब उनके विकास और उनकी स्थिति में सुधार के नाम पर हो रहे हैं।

आज़ादी के बाद दो पंचवर्षीय योजनाओं में करीब तिरासी हज़ार (बिहार और झारखंड में 46664, उड़ीसा में 20997 और पश्चिम बंगाल में 15334) लोग विस्थापित हुए जिनमें 90% आदिवासी थे। बाँध बनें, कल -कारखाने बनें -ये देश के समुन्नत विकास केलिए ज़रुरी है लेकिन सरकार इस तथ्य से मुँह मोड़ लेती है कि जो निर्माण हो रहे हैं उनकी प्रेतछाया से प्रकृति,पर्यावरण और इंसान का अस्तित्व संकट में है। छठे दशक के पूर्वार्द्ध में तिलैया में दामोदर घाटी परियोजना के अंतर्गत बाँध का निर्माण शुरु हुआ। बाँध पूरा होने तक हज़ारों परिवारों को अपने

मूल से उखड़ना पड़ा। पहाड़ी आबोहवा में पले-बढ़े लोगों को सरकार ने इधर-उधर पुनर्वासित किया। कागज़ी रिपोर्ट तो यह है कि सारे के सारे विस्थापित अब सुख-चैन से जी रहे हैं। किन्तु झारखंड के हज़ारों परिवारों को चार बार विस्थापित होना पड़ा। सरकार के एजेण्डों ने घूम-घूमकर यही बताया कि आपके थोड़े से त्याग से देश अतिसमृद्ध बन जाएगा। बाँध बनते -बनते परियोजना से प्रभावित लोगों की ज़िंदगी बेहाल हो गई। योजनाबद्ध तरीके से विस्थापन और सरकार द्वारा पुनर्वास के खोखले वादों के बीच इतनी ज़्यादा उलझनें पैदा हो गईं कि आदिवासी अपनी ही ज़मीन में अजनबी बन गये।

भूमंडलीकरण के युग में हर राष्ट्र को समृद्ध होना है। लेकिन परियोजनाओं के साथ जुड़ी नग्न सच्चाई तो यही है कि जो स्थान विकास योजना केलिए चुने जाते हैं वहाँ के मूल वाशिंदे अपनी ज़मीन से उखड़ जाने केलिए विवश हो जाते हैं।

भारतीय जनजातियों का विस्थापन।

भारत के जनजातियों की जीविका और संस्कृति उनकी जंगलों से जुड़ी है। लेकिन उन्हें जंगलों से 'वन नाशक', 'अवैध शिकारी' और 'अविवेकी' कहकर खदेड़ा गया। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने जंगलों के विनाश का मुख्य अभियुक्त आदिवासियों को ठहराया। इस तरह आदिवासियों के लिए जंगल प्रतिबंधित हो गए, वहाँ जाना ग़ैरकानूनी हो गया। आज़ादी हासिल करने के बाद जंगल बचाने के नाम पर

दर्जनों की संख्या में अव्यावहारिक और अमानवीय कानून बनाये जा रहे हैं। सदियों से जंगलों के हक़दार बने आदिवासी वन कानूनों के कारण अपने मूल से कट गये, विस्थापित हो गए। सरकार का कहना यह है कि मुआवज़े की राशि केवल लगान देनेवालों को ही मिलेगी। इसके आधार पर 99% आदिवासी पुनर्वास की सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं। रिहंद गाँव से विस्थापित लोगों के और कोयल -कारो परियोजना, झारखंड के लोगों के साथ भी ऐसा ही हुआ। 1981 में रामगुंडम में नेशनल थर्मल पॉवर कारपोरेशन (एन टी पी सी) के कारण विस्थापित लोगों के पुनर्वास की कागज़ी कार्रवाई सोलह साल तक चलता रहा।

विस्थापितों के पुनर्वास से संबंधित अधिनियम को अनेक राज्यों ने बनाया लेकिन हर साल दो - चार लाख लोग बेघर हो रहे हैं और सरकार उन्हें पुनर्वासित करने में असमर्थ है। सबसे बड़ी समस्या 'भूमि के बदले भूमि' की है। परियोजनाओं की अवधि काफ़ी लंबी होने की वजह से उत्तरोत्तर परेशानियाँ बढ़ जाती हैं। मिसाल के दौर पर टिहरी परियोजना में पुनर्वास का काम दो दशकों से चल रहा है।

ज़मीन से उजड़ने - उखड़ने के बाद विस्थापित आदिवासी असंगठित क्षेत्रों में जाकर पनाह माँगते हैं किन्तु किस्मत वहाँ भी दग़ा दी जाती है। सभी लोग साँस चलने और अपना वजूद क़ायम रखने के लिए जहाँ-तहाँ काम करने में नहीं हिचकिचाते। मज़दूरी पर भी वे जोखिम -भरे कामों में हाथ डालते हैं। देखते ही देखते वे मौत के मुँह

में समा जाते हैं।

आधुनिक व्यवस्था ने जिस तरह उनके संसाधनों पर अधिकार जमाया उससे आदिवासी समाज में भटकाव की प्रवृत्ति पैदा हुई है। यह भटकाव बहुस्तरीय है जो विनाश का पाथेय है। आदिवासी अंदर से टूटकर बिखर रहे हैं। सभ्य समाज यह मानकर जंगलों में जाता है कि आदिवासी इलाकों में मज़दूर खूब उगते हैं। वास्तविकता भी यही है। क्योंकि आधुनिक विकास का सीधा संबंध विस्थापन से है। इस परिस्थिति में आदिवासी रोटी के लिए अवश्य तड़पेंगे। पर्यावरण रक्षा के नाम पर सैकड़ों जनजातियों को उनके पैतृक निवासस्थान, जंगलों से निष्कासित होना पड़ रहा है। विरोध करने पर सरकारी दमन की यंत्रणा उन्हें झेलनी पड़ रही है और उनकी पैरवी केलिए कोई मानवाधिकार अथवा स्वयंसेवी संगठन आगे नहीं आते हैं। जंगल के बादशाह रहे आदिवासी इन्हीं परिस्थितियों के चलते मज़दूर बनने के लिए विवश हो जाते हैं । सरकार व ग़ैरकानूनी संगठनों द्वारा चलायी जा रही प्रत्येक आदिवासी कल्याण योजना उन्हें पूरी तरह राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल करा देने में असमर्थ रही है। इसलिए जनजाति समूह भारतीय नागरिक के रुप में अपने अधिकारों से वंचित रहते हैं। ये लोग अपने मूल स्थानों से विस्थापित होते हैं और नये स्थानों में शारीरिक व मानसिक रुप में जमने में असफल होकर जीने के लिए विवश हो जाते हैं।

किसी भी जनजाति केलिए ज़मीन उनकी पहचान और संस्कृति का हिस्सा है। जैसे-जैसे देश का आधुनिकीकरण होता गया, वैसे-वैसे उनकी ज़मीनें उनसे छिनती गयीं। जनजातियों से छीनी गयीं इन ज़मीनों पर मुख्यतः कारखाने, बाँध और सड़कें बनायी गयीं। परिणामतः उनकी पुश्तैनी ज़मीन से वे विस्थापित होते गये। वर्षों से आदिवासियों की हालत बिगड़ी हुई है तथा आज भी वे गरीबी, बेरोज़गारी, ऋणग्रस्तता, पिछड़ापन, अज्ञानता आदि समस्याओं से जूझ रहे हैं। आदिवासियों को उनकी ज़मीन से बेदख़ल करने में सूदखोरों और महाजनों की भी अमानवीय भूमिका रही है जिन्होंने पहले तो उन्हें ऋण के जाल में फँसाया फिर बाद में ऋण चुका न पाने की स्थिति में उन्हें उनकी ज़मीनों से बेदख़ल कर दिया।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में विस्थापित जनजातियों का चित्रण।

विकास और विस्थापन का दंश, आदिवासी संसाधनों और संस्कृति के साथ मनमाना व्यवहार, शोषण की निरंतरता, अशिक्षा, गरीबी और उससे उपजे असंतोष के संदर्भ, आदिवासी जीवन में विद्‌यमान हैं। उनके जीवन और समाज में सेठ, साहूकार, सूदखोर, ठेकेदार, दलाल जैसे लोग बाज़ार के अंग के रुप में प्रवेश कर शोषण करते हैं। आदिवासी बालकों से ये बाज़ारी अंग काम करवाते हैं, युवतियों को नेपाल और कलकत्ता ले जाकर बेचते हैं। कुछ लोग इनकी सभ्यता - संस्कृति को चित्रों में बाँधकर ले जाते हैं और विश्व -बाज़ार में पैसे

कमाते हैं। बाहर से आये लोग इनकी मिट्टी का सौदा करते हैं, उनकी ज़मीन पर खड़े रहकर उनसे उनकी औकात पूछती हैं। विकास कार्यों के नाम पर भारतीय जनजातियों को जो शोषण और विस्थापन का दर्द सहना पड़ रहा है इसका वर्णन करने में समकालीन हिन्दी उपन्यासकार सफल हुए। भारत में जीवित प्रमुख जनजातियों के जीवन में विकास के नाम पर छाये संकट को यथावत् चित्रित करने में समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों का प्रयास सचमुच सराहनीय है।

समकालीन हिन्दी उपन्यास में विकास हेतु उत्पन्न जनजाति - विस्थापन।

संजीव रचित 'पाँव तले की दूब' उपन्यास में पंचपहाड़ के खनिज बहुल क्षेत्र का चित्रण हुआ है। औद्योगीकरण की चपेट में आते गाँव, झारखंड मुक्ति आंदोलन और आदिवासी जीवन का इसमें यथार्थ अंकन हुआ है। डोकरी नाप विद्युत संस्थान के मंच पर घटिन इस कथा के माध्यम से लेखक यह बताना चाहता है कि औद्योगीकरण किस प्रकार गाँवों तथा आदिवासियों को विस्थापित कर रहा है। फिलिप नामक आदिवासी युवक इसी कसक को सभा के सामने प्रस्तुत करता है कि यह धरती, सोना उगलती है और आदिवासी इस धरती की कंगाल संतानें हैं। अधिकारी और पूँजीपति न केवल शोषण करते हैं अपितु राष्ट्रीय संपत्ति की लूट भी करते हैं। आदिवासी इलाकों में लगाई गई पूँजी और खोले गए उद्योगों ने वहाँ विकास के 'इकोनॉमिक एन्क्लेव' बनाए हैं और स्थानीय समाज खासकर आदिवासी इस घेरे से बाहर हैं। आज

आदिवासी इलाके, विकसित राष्ट्रीयताओं के चरागाह बने हुए हैं।

झारखंड के नाम पर उससे दूर रहकर बनायी जा रही योजनाओं ने इस पूरे इलाके में अन्याय और शोषण की, बेदख़ली और विस्थापन की सौगात भर दी है। इस दोहरी मार को झेलने के लिए आदिवासी मजबूर हुए। जो योजनाएं बनीं उनमें इस इलाक़े के समूहों की ज़रुरतों को अनदेखा कर दिया गया। मिसाल के तौर पर इलाके में बड़े बाँधों की कई अनुपयोगी परियोजनाएं शुरु कर दी गईं जिनकी वजह से आदिवासी बड़े पैमाने पर उजड़े और उन्हें हासिल कुछ नहीं हुआ। इस पठारी इलाके में जल प्रबंधन और सिंचाई के लिए 'आहरों' की समृद्ध परंपरा थी जो सरकारी नीतियों की वजह से सूख गयी। आदिवासियों को सिर्फ़ योजनाओं की असंगति ने नहीं उससे कहीं ज़्यादा उन्हें लागू करनेवालों की नीयत ने मारा।

'पाँव तले की दूब' उपन्यास का पात्र, सुदीप्त परिस्थितियों को बदलना चाहता है। उनकी राय में आदिवासी लोगों की दो कमज़ोर नसें हैं - अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता। पहली संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और दूसरी उन्हें कंगाल बनाती रहती हैं। दारु की लत और ज़रुरतमंदों को सूद पर पैसे और अनाज देकर जिन लोगों ने आदिवासियों के ज़मीन हथिया ली उनके साथ सरकारी कर्मचारी, पुलिस और गुंड़े का पूरा तंत्र है। डोकरी में एन.टी.पी.सी केलिए सरकार, आदिवासियों की ज़मीन अधिग्रहण कर

रही थी। ज़मीन में उनकी भागीदारी को खत्म की जा रही थी और उन्हें वहाँ से बेदख़ल किया जा रहा था। मुआवज़े का पैसा भी अफ़सरों के जेब में चले गए। डोकरी और मकर नाम के गांवों को किसी ने फूँक मारकर उड़ा दिया। यहाँ से विस्थापित लोग कटी हुई पतंग की तरह यहाँ-वहाँ बिखर गये।

सुदीप्त ने प्लाण्ड बनने से पहले और बाद के गाँवों की अवस्था की तुलना की। उसे पता चला कि गाँवों के नसीब में सिर्फ ज़हरीला पानी और धुआँ था। आसपास के गाँवों में बिजली पहुँचाना भी योजनाओं का लक्ष्य है, लेकिन सभी गाँव अभी भी अंधेरे में डूबे हुए हैं। प्लाण्ड बनने से ज़मीन बंजर हुई, लोगों से रोज़ी-रोज़गार छीन लिया गया। योजना में स्थानीय लोगों को नौकरी नहीं मिली। प्लाण्ड का तमाम प्रदूषित जल बहाने से गाँव का एकमात्र जल स्त्रोत भी प्रदूषित हो गया। सुदीप्त ने इस स्थिति से निबटने के लिए एक मास्टर प्लान पेश किया। लेकिन इसके तुरन्त बाद उन्हें थर्मल पॉवर तकनॉलोजी के अध्ययन के लिए जर्मनी भेज दिया गया। सुदीप्त एक बेहतर दुनिया का निर्माण करना चाहता था उसने उसके लिए प्रयास भी किया था। लेकिन सहनशक्ति के आभाव तथा अपने ऊपर पड़े दबाव के कारण वह आत्महत्या कर लेता है।

आदिवासियों पर हो रहे अत्याचारों से मन हारकर सुदीप्त उनके चपरासी, कालीचरण को समझाने की कोशिश करता है- "तुम जिस

समाज से आये हो, वह सदियों से उपेक्षित रहा है। आज जो थोड़ी-सी रोशानी तुम तक सरकार की मेहरबानी या अन्य किसी तरीक़े से आ पा रही है, उसका इस्तेमाल तुम्हारे समाज में तब्दीली लाने केलिए करना चाहिए।"[1] उनके आनुसार आदिवासी जागकर जब खुद को और ग़ैर को, दोस्त को और दुश्मन को जिस दिन पहचानेगा, तब रास्ता भी खुद-ब-खुद निकल आएगा।

फिलिप अपने आदिवासी समाज की नाज़ुक स्थिति पर बहुत चिंतित था। अपने ऊपर हो रहे ज़ुल्मों से वह परेशान हो उठा। उनके अनुसार, "प्रदेश की दो -तिहाई आय हमसे होती है और हमारी हालत -न तन में साबुत कपड़ा, न पेट में भरपेट भात, दवा-दारू, पढ़ाई-लिखाई की बात छोड़ ही दीजिए। बहुत पैसा दिया सरकार ने, सरकार घोषणाएँ करती नहीं थकती-लेकिन हम कंगाल के कंगाल। मालो - माल कोई और हो रहा है। हमने कहा हमें अपने करम पर छोड़ दो लेकिन वे नहीं छोड़ते। सोने के खज़ाने पर कुण्डली मारकर बैठा साँप क्यों छोड़ दे।"[2] आदिवासी समूह ने मजबूर होकर अपने घरनुमा जंगल बचाने के लिए सघर्ष किया। पुलिस ने उन लोगों को जेल में बंद कर दिया। जंगल का नाश करने वाले सरदार और ठेकेदार को स्वतंत्र घूमते देखकर फिलिप आहत हो जाता है। वह शालबनी जंगल पर

---

1. संजीव - पाँव तले की दूब, पृ. सः 36
2. संजीव - पाँव तले की दूब, पृ. सः 112

आग लगाकर स्वयं उन लपेटों में विलय हो जाता है।

आदिवासी समाज का अपने समाज के बाहर के लोगों के प्रति 'शक़ की भावना' तथा उन्हें अपने ज़मीन से बेदख़ल कर औद्योगिक इकाइयों का विकास और उसमें शहरी सभ्य समाज द्वारा उचित प्रतिनिधित्व न देने का षड्यंत्र-ये सारी स्थितियाँ मिलकर 'झारखंड आंदोलन' जैसे जन आंदोलनों को जन्म देती हैं। यह पूरी लड़ाई उनका अपने स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने के लिए है। क्योंकि बहुलांश महसूस करता है कि औद्योगिक और सामाजिक विकास की प्रक्रिया ने उनके अस्तित्व पर गहरा आघात किया है जिसके कारण वे अपने जंगलों से दूर रहने केलिए विवश हुए हैं। पूरा झारखंड प्रदेश पिछले कई दशकों से शोषण और दमन की प्रक्रिया से गुज़र रहा है। विकास की प्रक्रिया के नाम पर उनका जितना शोषण किया गया है, उतना किसी और समाज का नहीं।

प्रकृति का जो सरल रुप है उनको पिछले सौ -डेढ़ सौ सालों से जटिल से जटिलतर और जटिलतम बनाने का प्रयास किया जा रहा है। पानी का प्रश्न जिस तरह से हमारे सामने आज आ खड़ा हुआ है यह उन्हीं का एक रुप है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद बाह्य उपनिवेशवादी अर्थतंत्र से प्रभावित होकर भारतीय शासकों ने संपूर्ण देश में औद्योगिक विकास कार्यक्रम को बड़े पैमाने पर लागू किया तथा ढेर सारी विकास - योजनाएँ प्रारंभ कीं। खनिज संपदा के दोहन से लेकर सैकड़ों बड़े-बड़े

कल - कारखाने लगाने का काम शुरु हुआ। इसके लिए बिजली और पानी की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हज़ारों मध्यम और बड़े बाँध बनाए गए। बाँध बनने से नदियों का प्रवाह रुक जाता है। जहाँ नदियाँ बह रही थी वहाँ मिट्ठी का तह आकर जम जाती है। विकास के नाम पर आरंभ की गई इन योजनाओं ने किसानों को पानी नहीं दिया अपितु उनकी ज़मीनें अवश्य पानी में डूब गईं। इस तरह समाज को विस्थापित करने में बाँध की भूमिका अहम है।

बुंदेलखंड के ग्राम्य समाज को विकास के नाम पर शुरु की जानेवाली बदनीयत योजनाएं किस तरह उजाड़ रही हैं इसका वर्णन वीरेन्द्र जैन रचित 'डूब' उपन्यास में है। दिल्ली और भोपाल में बैठे हुए योजनाकारों के मेज़ पर और उनके दिमाग में जो नक़्शा पसरा हुआ है उसमें सिर्फ बेतवा नदी है, बुंदेलखंड स्थित राजघाट है और इस योजना से संभव लाभ 'सोख' लेने का प्रपंच है। उनके नक़्शे में इस योजनास्थल के आसपास रहनेवालों की ज़रुरतों के लिए जगह नहीं हैं।

आज़ादी के बाद से 'डूब' उपन्यास शुरु होता है। बेतवा के किनारे बसा तीन तरफ़ पहाड़ियों से घिरा और शेष समाज से कटा हुआ है लड़ैई गाँव। राजघाट पर बाँध बनने की जो घोषणा वरदान लगी थी, वह लैड़ई केलिए और अन्य गाँवों केलिए आभिशाप बन गया। विकास की दौड़ में गाँव, उजाड़ का पर्याय होता चला गया। उसका सबकुछ उससे छीनता चला गया। डूबते जहाज़ से छलाँगें लगाते चूहों की तरह

लोग गाँव छोड़कर भाग रहे हैं मगर वहाँ सरकारी अधिकारी वर्ग, ज़मीनें और मुआवज़े हड़पने के लिए बैठे हैं । हर परिवार इस बुरी नियति के बोझ से संघर्ष कर रहा है-लगभग पशु समान गया-बीता जीवन बिताने को मजबूर हो रहा है।

विकास की सामूहिक यात्रा में लडैई गाँव भी सहयात्री होना चाहता था। गड़बड़ी यह हुई कि गाँव को विकास का सहयात्री नहीं बनाया गया, उसे साधन भर समझा गया। सत्ता और शहर की इस साजिश में वह सामंतवादी शक्तियाँ भी सहयोगी हुईं जो गाँव को अपनी जागीर बनाए रखना चाहती थीं। लोगों की ज़मीन जबरन ले ली गईं। मुआवज़े के नाम पर भ्रष्ट अफ़सरशाही और बाबूशाही ने साव लोगों के साथ मिलकर इन्हें खूब लूटा। बाँध की योजना बदलती रही, डूब क्षेत्र का स्थानांतरण होता रहा। ठेकेदारों, सावों और अभियंताओं केलिए बंगले और अभयारण्य बनते रहे और इन सबको लड़ैई गाँव झेलता रहा।

यह बात जानकर गाँववाले संतुष्ट हो गये कि लड़ैई गाँव के दस कोस आगे राजघाट के पास मिट्ठी-गारे का बाँध बनने से इलाके की भरपूर प्रगति होगी लेकिन जल्द ही लोगों को पता चला कि उनके गाँव 'डूब' क्षेत्र में शामिल है। बाँध का टीला बनाने के लिए मिट्ठी खोद-खोदकर निकाल ले जाने के कारण रास्ते में गहरे गड्ढे बन गए। यह देखकर गाँव का बुज़ुर्ग, माते को लगा कि बाँध ने लड़ैई गाँव से स्कूल और सड़क छीना, तेंदू पत्ते का रोज़गार और शान्ति छीनी। लड़ैई गाँव

के आसपास के गाँवों में ज़मीन इकट्ठा करना शुरु किया। लोग मुआवज़े की प्रतीक्षा में रहने लगे। विस्थापन को पहले से ही भाँपकर ज़मींदार जो ज़मीनें खरीद रखी थीं वह विस्थापित लोगों को ऊँची दामों में बेचने लगा। सरकार से जो मुआवज़ा मिला उसमें से आधा अफ़सर लूट ले गये और आधा साव लोग। सरकार को बेचने के बाद उस ज़मीन में पुराने भूस्वामी ने जो फसल पैदा की, उसको भी सरकारी अफ़सरों ने हड़प लिया। बाँध योजना के अफ़सरों के परिवारों के लिए केन्द्रीय विद्यालय जैसी सुविधाओं की स्थापना हुई। यह जानकर माते ने सोचा कि राजघाट पर बसे शहर को मज़बूत बनाने केलिए ही सरकार ने इनके घरों को मज़बूत होने नहीं दिया। गाँववाले, सपनों से ख़ाली, तमन्नाओं से बेख़बर, जीवन से ऊबे, कांतिहीन, मांस-मज्जाहीन हाड़ के ढाँचे बने, विस्थापित हो जाने की आशंका में रहे।

सरकार के अनुसार, बाँध क्षेत्र से सभी लोगों का विस्थापन और पुनर्वासन ठीक तरह से हुआ था लेकिन वास्तविकता कुछ अलग थी। एक दिन माते को ख़बर मिली कि राजघाट बाँध के एक तरफ़वाले टीले में दरार पड़ गई। बहुत से गाँव डूब गये और मरनेवालों की संख्या अनगिनत है। पंचमनगर गाँव के लोग किले में इकट्ठे थे, माते भी वहाँ पहुँचे। बाँध से संबंधित रेडियो पर प्रसारित ख़बर इस प्रकार थी-बेतवा नदी के राजघाट पर निर्माणाधीन बाँध के तटबंधों में से एक में दरार पड़ जाने से एक छोटा-सा भाग टूट गया और पानी बहकर आसपास के

ख़ाली पड़े खेतों को डुबो दिया। इस आशंका को ध्यान में रखकर ही सरकार ने बाँध के आसपास के तमाम गाँवों को मुआवज़ा देकर ख़ाली करवा लिया था। इस बाँध को टूटने से सरकार को भारी आर्थिक क्षति हुई अतः बाँध-निर्माण में भी अवरोध आया। फिर भी बाँध परियोजना अधिकारियों की दूरदर्शिता के कारण लोगों की जान बच गई, इसके लिए सरकार ने उनके प्रति आभार भी प्रकट किया है। एकदम झूठे समाचार सुनकर माते परेशान हो उठा और उसने रेडियो उठाकर दूर फेंक दिया।

सिंचाई के बहाने बाँध तैयार किये जाते हैं। इसके कारण जलाशयों और नदियों का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। वर्षों में जमा पानी सहज तौर पर बहकर नहीं निकल पाता और कई सालों तक यह पानी ज़मीन पर रहने पर लवणता नष्ट होकर उसकी सहज उर्वरता नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप, हराभरा अंचल ऊसर और मरुभूमि में तब्दील हो जाता है। स्वदेशी शासन की अमानवीय नीतियों से लड़ैई निवासी असंतुष्ट थे। उनके अनुसार लोकतांत्रिक शासन डाकू से भी अमानुषिक है क्योंकि डाकू धन लूट लेता है परन्तु वह घर से बेघर नहीं करता। देश, विकास के पीछे पड़ गया है और यह विकासकार्य लगभग 20% लोगों के उपलक्ष्य में किया जाता है। विड़ंबना यह है कि सरकार असली भारत को उसके हाल पर नहीं छोड़ देती है। बाँध बनाने के लिए पर्यावरण का नाश करता है, गाँवों की तबाही करती है।

हमारे देश का पर्यावरण भंडार बहुत तेज़ी से चुकता जा रहा है। बिगड़ता पर्यावरण और सामाजिक अन्याय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आज का विकास एक ऐसा माध्यम है जिसके ज़रिए अमीर और ताकतवर वर्ग देश के प्राकृतिक संसाधनों को अपने कब्ज़े में करता जा रहा है और इस षड्यंत्र में आधुनिक तकनीक पूरी तरह मदद कर रही है। 'डूब' उपन्यास का प्रतिपाद्य विषय देश के विकास के लिए तैयार की गयी बाँध परियोजना के तहत विस्थापित जनजीवन का है। बाँधों के निर्माण से खेत-मकान पानी में डूब जाते हैं, वृक्षों की कटाई होती हैं। बीस प्रतिशत लोगों की सुख-सुविधा केलिए अस्सी प्रतिशत लोग शिकार होते हैं। नदी का तल बढ़ाने के लिए मिट्ठी के टीले खड़े किए जाने से पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ जाता है। जिस लड़ैई गाँव को सिर्फ अनावृष्टि का अनुभव था वहाँ साल में दो-तीन बार बाढ़ आने लगी। परिणामस्वरूप, विस्तृत अंचल अनुर्वर बन गया। इससे उपजाऊ ज़मीन फसल के बजाए केवल चारा उगाने योग्य बन जाती है।

विकास का अर्थ भौतिक चीज़ों के उत्पादन और खपत में बढ़ोत्तरी नहीं। विकास वह प्रक्रिया है जो समाज के हर स्तर को पहले से अधिक स्वावलंबी बनाता है और लोगों को अपना भविष्य तय करने की ओर अधिक आज़ादी देती है।

वीरेन्द्र जैन कृत 'पार' उपन्यास 'डूब' उपन्यास की दूसरी कड़ी है जिसकी पृष्ठभूमि में बुंदेलखंड अंचल का आदिवासी समाज है। आदिवासियों

के विकास के नाम पर उजाड़े जा रहे जंगल और राजघाट पर बन रहे बाँध के दानवी विस्तार क्षेत्र ने राउत जाति को भी उजाड़ना शुरू कर दिया। जीरोन खेरे में बसे 'राउत जनजाति', लड़ैई से वहाँ चरने आए मवेशियों को देखकर परेशान हो उठे। उन्हें मालूम पड़ा कि राजघाट बाँध के लिए मिट्ठी और पेड़ ले जाने के बाद सब कहीं गड्ढे हैं और वहाँ न हरियाली बची न ज़मीन। उन्हें लगा कि मवेशियों के पीछे गाँववाले भी वहाँ पहुँच जायेंगे। राउत खेरे का मुखिया अपने जीवन पर आये संकट को समझता है। वह होनेवाला मुखिया, गुनिया से कहता है:- "हमें गाँववालों से किसी चीज़-बसत का सहारा था क्या? तब तो हम अपनी गुज़र-बसर इसी डाँग से कर लेते थे। अब दिनोंदिन गाँववालों के आसरे होते जा रहे हैं। अब डाँग में वह बरकत नहीं रही। कितना भटकने के बाद जलावन मिलता है। गाद मिलती है। शहद मिलता है। जड़ी-बूटियाँ तो जाने कहाँ समाती जा रही हैं। हम भले ही हरा-भरा रूख नहीं काटते। वह देवता है हमारी निगाह में। पर फिर भी हरे-भरे रूख बच पाए? हम उनका कटना रुक पाए? रोक पाएँगे कभी..? अब ये शहरवाले नदी पर बाँध बना रहे हैं। तब प्रलय आएगी। जो अब तक बचा है, वह सब भी स्वाहा हो जाएगा। तब हम कहाँ जाएँगे? कैसे जिएँगे?"[1] मुखिया की यह आशंका धीरे-धीरे सही साबित होती है। मुखिया चाहता है कि गाँववालों से एक बेहतर रिश्ता

---

1. वीरेन्द्र जैन - पार, पृ. सं: 51

हो जाय। राउत खेरे की औरतें गाँवों में अपने सामान बेचने जाती हैं। युवक चुपके से शहर में मज़दूरी करने का उपाय ढूँढ़ते हैं। तभी वे लोग यह जान जाते हैं कि शहर उनके साथ 'जनावर' से भी ज़्यादा बुरा सलूक कर रहा है।

लड़ैई गाँव के निर्मल साव ने जीरोन खेरे में घूरे साव नाम पर कारोबार फैलाया। बाँध आने के कारण अधिकांश साव लोग शहरों में जा बसे। कमाई के अन्य तरीक़े ढूँढे निर्मल साव को स्त्री-व्यापार के बारे में पता चलता है। वे राउतों के इलाके में आने-जाने लगे और राउतनों को फसाकर शहर ले जाकर बेचने लगे। पकड़े जाने के भय से वह बहुत जल्द ही अपने व्यापार से हाथ धो बैठा। खेरेवालों की नसबंदी करवाने में सरकारी अफ़सरों की मदद करके निर्मल साव ने सात गाँवों के परमिट का शक्कर और किरसिन भी प्राप्त कर ली। उनको पता था कि लड़ैई गाँववाले मुआवज़े प्राप्त करने के बाद विस्थापित हो जाएंगे और वे जीरोन खेरे में बसने के लिए तैयार हो जाएंगे। इसलिए उन्होंने जीरोन खेरे को अपनी पुश्तैनी ज़मीन प्रमाणित करने के लिए ज़रुरी कागज़ात भी अधिकारियों के सामने प्रस्तुत किए। इस षड्यंत्र में जीरोन खेरे की राउत जनजाति कहीं के नहीं रह गयी। वे इस इलाक़े का नाजायज़ कब्ज़ेदार बन गए।

राजघाट बाँध के तटबंध टूटने से कई गाँव डूब गए और लोग लड़ैई में आकर बसने लगे। इससे संबंधित झूठी ख़बर रेडियो में सुनकर माते सोचने लगा कि अगर सरकार पहले ही सभी गाँववालों को उचित

मुआवज़े देकर ख़ाली करवा चुकी थी तो डूब गए गाँवों में लोग कहाँ से आए? माते को यह सूचना भी मिली कि अब लड़ैई से सभी लोगों को निकालकर वहाँ अभयारण्य बनानेवाला है। डूब क्षेत्र से उबरने के कारण लड़ैई गाँव मौजूद में रहेगा लेकिन विकास-कार्य इस ओर नहीं बढ़ेगा। यहाँ अभयारण्य बनाने की योजना के तहत यह गाँव अपनी आहुति देगी लेकिन कब, पता नहीं। एक प्रतीक्षा से निकलकर लड़ैई गाँव एक दूसरी अनंत प्रतीक्षा में डूबने को अभिशप्त हुआ।

राजघाट बाँध के उत्तरप्रदेशवाले हिस्से में निर्माण-कार्य तेज़ी से होते रहे। मध्यप्रदेशवाले क्षेत्र में पानी को जमा करने और जलाशय बनाने की योजना थी। इसलिए यहाँ के लोगों को मुआवज़ें देकर पुनर्वासित करने में कोई जल्दी नहीं थी।

रामदुलारे, बाँध योजना से संबंधित सभी दफ़्तरों में गये तो उन्हें मालूम हुआ कि योजना के जल्दी समाप्त होने के आसार कम है। सभी लोकतांत्रिक तत्व बाँध से फ़ायदा उठाना चाहता है और इसके बीच फंसे गाँववाले ज़मीन और जीवन से विस्थापित होते जा रहे हैं। ऊपर से लड़ैई गाँव बनने से लोग संग्रहालय की वस्तु बन जायेंगे। इसलिए इनकी स्थिति सुधारने के लिए रामदुलारे प्रयत्न करने लगे।

'पार' उपन्यास का पात्र, अरविंद पांडे के अनुसार सालों से पूरा होनेवाले बाँध का तो विरोध करना चाहिए क्योंकि इससे लोगों में प्रगति नहीं आएगी। "बहुत से लोग जगह-जगह पर विरोध कर रहे हैं। टिहरी बाँध का, बरगी बाँध का, नर्मदा घाटी परियोजना का, सरदार सरोवर

का। वे सब क्या गलत कर रहे हैं? आखिर ऐसी योजनाओं से लाभ क्या जो सदियों से पूरी हों। और जब पूरी हों तब हमारी ज़रुरतें इतनी भी पूरी न कर सकें कि हम एक दशक भी चैन से रह पाएँ।"[1]

निर्मल साव की साया जिरोन खेरे में मंडरा रहा है। उनकी सहायता से कैलाश महाराज जो मंदिर बना रहा है वह पूरे होते ही वहाँ बाहरवाले आने लगेंगे और राउत जनजाति वहाँ से बेदख़ल होंगे। गुनिया को जब यह बात पता चल गया कि राउतनों को डाकू नहीं निर्मल साव उठा ले गये थे तो वह अरविंद पांडे के साथ पुलिस पर रिपोर्ट दर्ज करने गये। लेकिन वहाँ से अपमानित होकर लौटना पड़ा। निर्मल साव द्वारा राउत जनजाति पर हुए सभी ज़ुल्मों के बदले गुनिया ने उनकी हत्या कर डाली। राउत लोग जीरोन खेरे छोड़कर भाग गये।

तन ढाँपने के लिए कपडे की कमी के कारण लड़ैई के कुछ लोग जंगल में बसने का निर्णय लिया लेकिन माते ने उन्हें रोक लिया। गुनिया को पकड़ने में असफल बने पुलिस ने निर्मल साव की हत्या के जुर्म में अरविंद पांडे को पकड़ा। यह जानते ही लड़ैई के कुभाग्य पर आँसू बहाकर माते चिरनिद्रा में डूब गये। लड़ैई धीरे-धीरे मानवहीन होगयी। भय और सब्र की इंतहां ने लोगों को उजाड़ने के लिए मजबूर किया। पंचमनगर में उठ रही दीवार के कारण शेष दुनिया से उनका संपर्क भी टूटता जा रहा था। गाँव उजड़ चुका था।

---

1. वीरेन्द्र जैन - पार, पृ. सं: 134

योजनाकारों ने वर्षों पहले बाँध बनाने की योजना बनायी और साल बीतने पर दलालों और साहूकारों की फौज बड़ी होती रही। इस इलाक़े के आम आदमी को कुछ हासिल हुआ तो बस बदहाली और विस्थापन का न ख़त्म होनेवाला सिलसिला। वीरेन्द्र जैन द्वारा रचित 'डूब' और 'पार' उपन्यास इस व्यथा की कथाएँ हैं। विस्थापित समाजों को भटकाव की जो अंतहीन नियति झेलनी पड़ती हैं, उसे लड़ैई के माते जानते हैं, राउत खेरे के मुखिया और गुनिया समझते हैं और वे आदिवासी औरतें भी जानती हैं जिन्हें इसी विकास का दलाल, निर्मल साव शहर में बेचने ले गये थे।

बेतवा, राजघाट और बुंदेलखंड के आसपास जो कुछ हो रहा है, वह एक देशव्यापी छल का हिस्सा है। इसलिए एक आँचलिक पृष्ठभूमि पर रचे जाने के बावजूद 'डूब' और 'पार' उपन्यासों का परिदृश्य देशव्यापी है, इनकी चिन्ताएँ समूचे भारत की चिन्ताएँ हैं। इन्हें पढ़ते हुए देश के विभिन्न हिस्सों में चल रही बड़ी परियोजनाओं की याद आती है और कई तकलीफ़देह सवाल मन को देर तक मथते रहते हैं।

श्रीप्रकाश मिश्र कृत 'जहाँ बाँस फूलते है' उपन्यास मिज़ो जनजातियों की समस्याओं-जैसे ज़मीन-जंगल पर अधिकार, नौकरी में जगह, ठेकेदार का शोषण इत्यादि को व्यक्त करके उनको मुख्यधारा से जोड़ने की समस्या को लेकर लिखा गया है। स्वतंत्रता के बाद, असम सरकार और भारत सरकार ने अंग्रेज़ों की नीति का यांत्रिक अनुसरण करके तमाम

सीमावर्तो जनजातियों को 'एंथ्रोपालेजिकल म्यूज़्यिम' बनाकर रखने की एक अवधारणा की गयी।

'मिज़ो जनजाति' का विस्तार तिब्बत, बर्मा और तत्कालीन पूर्वो बंगाल तक है। मिज़ो के पिछड़ेपन को बदलने के लिए सरकार नीति बनाती है लेकिन यह नीति उन्हें वही हाल पर छोड़ देती है। सरकार की नीति को कार्यान्वित करनेवाले अधिकारी वर्ग विकास के लिए मिले पैसे अपनी जेब में रख लेते हैं, यहाँ के वन-संपदा तथा स्त्रियों का उपयोग इस तरह करता है कि मिज़ोरम उसका उपनिवेश हो और वे सब मालिक। मिज़ो लोगों के खेत में फसल तैयार होते ही इलाक़े के ज़मींदार वहाँ आकर उनके घरों को उजाड़कर, फसल काटकर ले जाते थे।

लोकतांत्रिक दल लाखों की परियोजनाएं बनाकर जनजाति का शोषण करते हैं और ये लोग अशिक्षा, गरीबी और भय से आहत होते हैं। इनके प्रतिकार या प्रतिवाद की आवाज़ को क्रूरता से दबा दिया जाता है। तथाकथित सभ्य समाज के लोग इन लोगों की सतरंगी संस्कृति को बेरंग करके उसे समाप्त कर देने की साजिश करते हैं और मनमाना शोषण करते हैं। आदिवासी- विकास के नाम पर अनेक योजनाएँ बनती हैं, अनुदान प्राप्त किये जाते हैं, शैक्षिक प्रकल्प बनते हैं, आवास- स्वास्थ्य- शिक्षा और रोज़गार की योजनाएं बनती हैं किन्तु आदिवासियों को इनका फ़ायदा नहीं मिलता।

नेपाल की सीमा से लगे बिहार के पश्चिमी चंपारन जिले के 'मिनी चंबल' के नाम से प्रसिद्ध जंगलों में निवास करनेवाली 'थारु जनजाति' तथा उस क्षेत्र के डाकुओं, राजनीतिज्ञों, पुलिस और प्रशासन के बीच छिड़ी जंग का रोमांचक वर्णन संजीव द्वारा रचित 'जंगल जहाँ शुरु होता है' उपन्यास में है।

1857 के सिपाही विद्रोह के बाद थारु इलाके में पहुँचे ज़मींदार लोगों से डाकुओं का गठबंधन हुआ। डाकुओं ने ज़मींदारों से थारुओं की ज़मीन, उनकी इज़्जत वापस दिलवाने का वचन देकर सबकुछ लूट लिया। इतिहास के अनुसार, मुगलों से अपने इज़्जत को बचाने के लिए भागे राजपुतानियों ने बाद में उनके नौकरों के साथ संबंध जोड़े और इससे थारू जनजाति का उदय हुआ। उपन्यास के पात्र, काली के शब्दों में, "हम थारु वैसी ही कंगाल की ज़िन्दगी जी रहे हैं। इतिहास सड़ -गलकर बदबू दे रहा है। बदबू को ढकने केलिए कुछ रहा भी हो तो, हमने तरह-तरह के तरीक़े अपनाए-थारु गाय का दूध नहीं पीते, थारु हिरण का मांस नहीं खा सकते वगैरह-वगैरह, मगर लाज थी कि उधरती ही गयी। अच्छा हुआ कि सरकार ने हमें 'ट्राइबल' मान लिया।"[1]

थारु जनजाति ज़मींदार, डाकू और पुलीस-तीनों के अत्याचारों के बीच पिसने को मजबूर हैं। ज़मींदार इनका शोषण करते हैं, डाकू इन्हें

---

1. संजीव - जंगल जहाँ शुरू होता है, पृ. सं: 137

हथियार और सहयोग प्राप्त करने के साधन के रूप में इस्तेमाल करते हैं, पुलिस इन्हें डाकुओं से मिला हुआ समझकर इनकी खोज-खबर पाने के लिए इन पर अत्याचार करती है और नकली मुठभेड़ में हत्या तक कर डालती है।

'पठार पर कोहरा' उपन्यास द्वारा राकेश कुमार सिंह झारखंडी गाँवों की नब्ज़ टटोलकर आदिवासी-ग़ैरआदिवासी के बीच बन चुकी खाई की अंदरुनी परतों को पूरी ताकत से खुरचा गया है। यहाँ की समस्याओं की जड़ में वे मुट्ठी-भर सामंत है जो इन बिहड़ों में वर्षों से अपनी समानांतर सरकार चला रहे हैं जिनकी आर्थिक तानाशाही के चलते झारखंडी आदिवासी अभावग्रस्त, शोषित और प्रताड़ित रहने की मजबूरी झेल रहे हैं। आज़ादी के बाद झारखंडी जंगलों और ज़मीन पर साहू, बाबू और बंदूक की नोंक पर एक ख़तरनाक दुनिया खड़ी है जिसमें वर्ग संघर्ष, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, पुलिस की अकर्मण्य भूमिका और अपराध के अंतहीन सिलसिले हैं।

'पठार पर कोहरा' उपन्यास झारखंड क्षेत्र की 'मुण्डा जनजाति' के जीवन की एक सही और सच्ची तस्वीर है। गजलीठोरी नामक बीहड़ के स्कूल में संजीव संयाल नामक एक अध्यापक पहुँचता है जहाँ विद्यालय केवल कागज़ पर है। आदिवासी गाँवों में शिक्षा के नाम पर चलनेवाले भ्रष्टाचार से संजीव वाकिफ़ हो जाता है। विद्यालय के नाम पर एक मकान न होते हुए भी बजट लगातार आता रहता है और उसका

खर्च और समायोजन भी होता है।

गजलीठोरी गाँव के ज़मींदार, बाबा गउवां बेचू तिवारी और दूकानदार, साहू गगन तिवारी की अपराधिक शक्ति 'जंगलसेना' से मिलती है। ये दोनों पूरा क्षेत्र लूट जाते हैं। विकास के नाम पर सरकार द्वारा सैकड़ों योजनाएं चलाने के बावजूद भी जन-जातियों की स्थिति में कोई बदलाव नहीं। संजीव, आदिवासियों में ज्ञान की ज्योति जलाने का प्रयत्न करता है तो शोषक वर्ग उसके खिलाफ़ हो जाते हैं। गजलीठोरी के सामाजिक और आर्थिक वातावरण में परिवर्तन देखकर दुश्मन अपने आखिरी अस्त्र का प्रयोग कर डालते हैं। संजीव की हत्या करने के बाद भी परिस्थिति उनके अनुकूल नहीं हो जाती क्योंकि गजलीठोरी में विद्रोह का बिगुल बज चुका था।

स्टेट प्रोग्राम फॉर एलीमेन्ट्री एजूकेशन डवलपमेंट (स्पीट) योजना के लिए मिल रहे विदेशी आर्थिक मदद कुछ राजनेता, साहूकार और शिक्षा विभाग के अफ़सरों की जेबों में जा रही हैं। इलाक़े में होनेवाला हर काम किसी आदिवासी की आड़ में बाहरी समाज ही कर लेता था।

आदिवासियों के कल्याण की सैकड़ों योजनाएं बनीं गयीं, लेकिन आबंटित राशि का दस प्रतिशत भी उन तक नहीं पहुँचा। कई योजनाएँ मात्र कागज़ पर ही रहीं, फाइलों की कब्र में कई योजनाओं का दफ़न हो गया। अफ़सरशाही और राजनीति के तालमेल इसी तरह क़ायम रहे, तो जनजाति समाज लंबे समय तक अनपढ़, नंगा, शोषित और उपेक्षित

रहेगा।

मुगलों ने आदिवासियों को जंगलों से खदेड़ा तो वे भटकने को मजबूर हुए, दाने-दाने के लिए मोहताज हो गये। अभाव में स्वभाव बदल गया, कुटिलता और चालाकी उनके स्वभाव में चस्पाँ हो गईं। कुछ लोग भीख माँगने लगे, कुछ ने जंगली पशुओं को लेकर तमाशा करना शुरू किये, कुछ ने लूटपाट को अपना पेशा बनाया। जीवन में आयी ऐसी लाचारी ने आदिवासियों को समाज की मुख्यधारा से अलग कर डाला।

मैत्रेयी पुष्पा द्वारा रचित 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास अपराधी जनजाति यानी 'क्रिमिनल ट्राइब्स' से संबंधित है। अपराधी जनजातियाँ न ही अरण्य आदिवासी वर्ग में शामिल हैं न ही सभ्य देहाती जनजाति में। इनकी नियति एक त्रिशंकु समाज की है। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास ऐसे वर्ग में शामिल 'कबूतरा जनजाति' की गाथा है। कबूतरा जाति आज भी समाज के वृत्त पर डेरा डालकर जीती हैं। ये लोग अपराध-कर्म से ही अपनी जीविका जुटा रहे हैं। छापामारी, सैंधमारी करनेवाला कबूतरा के पड़ाव जंगल और जेल हुए तो कबूतरी शराब की भट्टी तथा श्रीमंतों की सेज पर जा सजी।

कबूतरे अपमान की गठरी सिर पर लदी है, समाज उसको हमेशा संशय से देखते हैं। शाम होते ही पुलिस उनके शराब-भट्ठी पर आक्रमण करते हैं। मर्द खेतों और जंगलों में जा चुपते हैं और औरतों

पर अत्याचार होता है। जमुनी नामक एक गर्भवती कबूतरी की हत्या बलात्कार से होता है। पुलीस के अत्याचारों के बाद नंगी कबूतरी औरतों के तन ढाँपने के लिए मर्द चिथड़े उठा लाते हैं। नेहरुजी के द्वारा अपराधी जनजातियों को मुख्यधारा में लाने के लिए किए गये परिश्रमों से प्रभावित वीरसिंह नामक पात्र सेना में भर्ती होने के लिए गया लेकिन अपनी जाति 'कबूतरा' लिखते ही कान पकड़कर बाहर कर दिया गया। कबूतराओं को चोर कहलाने का विरोध किए वीरसिंह की हत्या के बाद उसकी पत्नी, भूरी ने अपना शरीर कज्जा लोगों को बेचकर उनके पुत्र, रामसिंह को पढ़ाया। लेकिन उनका बेटा शिक्षित हो जाने के बावजूद पुलिस का दलाल बन गया और डाकू बेटाराम के नाम पर मारा जाता है।

कज्जा यानी सभ्य मंसाराम को कदमबाई कबूतरी में जन्मा बेटा था, राणा। स्कूल में कबूतरा होने के कारण अपमान सहनेवाला राणा अपने समाज के बारे में इस प्रकार कहता है- "पिटना-पीटना, मरना-मारना हमारी ज़िंदगी है। गुनियाँ, ओझा, मुखिया और पुलीस हमारे भगवान हैं। कज्जा लोग माईबाप और मालिक। भूख- प्यास हमारी गुइयां है। देह गर्मो से जलने लगती है, हम चोरी से तलाब में नहा लेते हैं। जाड़े में हड्डियाँ चटकने लगती हैं, जंगल में से इंधन चुराकर देह सेंक लेते हैं। सच्चाई से रहो, ईमानदारी से जियो, नफ़रत त्याग दो- यह सब किताबों में लिखा है। एकदम झूठ, यह हमारे लिए नहीं। लोग

हमें ड़राते हैं, हम ड़र के मारे झूठ बोलते हैं, बेईमानी पर चलते हैं, नफ़रत करते हैं।"[1] राणा, जन्म लेता है एक कबूतरी के पेट से परन्तु उसमें कज्जा का खून और संस्कार रचा-बसा है। इसलिए आरंभ से ही वह 'दोगली ज़िंदगी' जीने के लिए अभिशप्त हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था से हारकर राणा विक्षिप्त हो जाता है।

मंसाराम, उनके सभी सभ्य सामाजिक संबंधों को तोड़कर कबूतराओं के साथ रहने लगता है। वह अपने दोस्त, केहरसिंह के साथ लाईसेंस शुदा शराब का ठेका खोलता है। कबूतरा जाति चोरी का काम छोड़कर वैध रूप से शराब बनाना और बेचना शुरु करती है। ऐसा लगता है कि कबूतरा जाति की जीत हो गयी परन्तु इस विजय के बदले उन्हें अपनी आज़ादी की आहुति देनी पड़ी। वे केहरसिंह और मंसाराम जैसे कज्जा लोगों के गुलाम बन गये। पहले आज़ाद थे, अब दूसरों के रहमो-करम पर जी रहे हैं। उनकी जिंदगी यहाँ तक सीमित है। इससे ऊपर जितने भी उठने की कोशिश उनकी तरफ़ से होती है, उसे या तो कुचल देते हैं या मौत की नींद सुला दिया जाता है।

यह ज़रूरी नहीं कि अपराधी जनजाति के सभी अपराधी हैं, बीती आधी सदी में उनमें काफ़ी सुधार आया है। आज चल रहे 'संरक्षण और शोषण' की संस्कृति में इन लोगों के संरक्षण और उत्पीड़न साथ-साथ चलता है। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में चित्रित कबूतरा जनजाति अपने

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. सं: 99

खानाबदोश ज़िंदगी से छूटकर एक स्थान में रहने लगे। इनके नाम मंडरोरा खुर्द की वोटर लिस्ट में भी आ गए। लेकिन कज्जा लोग और पुलिस यह सहन नहीं कर सके कि कबूतरा शिक्षित हो और सभ्य बने। यदि कोई कबूतरा ऐसा करता है तो सभ्य समाज की नज़र में षड्यंत्रकारी बन जाता है। यह आज का यथार्थ है। अपराधी 'कबूतरा' जैसी जनजातियाँ नहीं बल्कि अपराधी अपने को सभ्य कहनेवाला समाज है जो इन जनजातियों को 'अपराधी' बने रहने को विवश कर देता है।

झारखंड के पलामू क्षेत्र के 'ओराँव जनजाति' की संघर्षगाथा है मनमोहन पाठक कृत 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास। ये लोग अपने खेत ज़मींदारों के पास गिरवी रखने के लिए बाध्य होते हैं लेकिन उनके हाथ चढ़ा खेत आज तक कोई नहीं लौटा पाया। इसी तंत्र के चलते मेहनतकश लोग अपने गाँव, घर, खेत से बेदख़ल होकर जड़विहीनता का अभिशाप झेलते हैं। भारत के जनजाति वर्ग क्रूर पूँजीपति और अर्द्ध-सामंती शोषण के शिकार हैं। ज़मीनें उनके हाथ से निकल गई हैं, जंगल के अधिकार छिन गए हैं और वे ठेकेदारों तथा भूस्वामियों के लिए सस्ती और बँधुआ मज़दूरी के स्रोत बनकर रह गए हैं।

'पूँजीवादी-ठेकेदार-भूस्वामी' गठज़ोड़ के चलते जनजाति अपने जायज़ अधिकारों से वंचित रह जाता है। ठेकेदार अपने लाभ के लिए एक तरफ़ से जंगल साफ़ कर देते थे और रेंजर से लेकर फॉरेस्ट विभाग के सभी कर्मचारी इसमें बराबर के हिस्सेदार है। हर हफ़्ते सड़ी हुई

लकड़ियों की संख्या और चोरी में वृद्धि ज़्यादा दिखाई देती है। सरकार द्वारा वनों की नीलामी पर रोक लगा दी गई है पर ठेकेदारी पर कोई रोक नहीं। वन-व्यापार विभाग जंगल की कटाई अपनी देख-रेख में करवाता है पर ठेकेदार के मज़दूर लकड़ी काटते हैं। ऐसे ग़ैरकानूनी लूट का सारा दोष भारतीय जनजातियों के सिर पर आ जाता है।

बाहरी समाज के कानून से उरांव जनजाति के कानून टकराती रहती है। बाहरी कानून साँप की तरह उन्हें कसने लगते हैं। उपन्यास के पात्र, सोनाराम के अनुसार, "बाहर का धर्म उरांवों को ही सज़ा दे रहा है। उनका समाज हमारे समाजों को, गाँवों को लीलता जा रहा है। उनके फैलाए गए प्रपंच से गाँव के गाँव उजड़ते चले जा रहे हैं।"[1] "अत्याचार सहते-सहते लोगों की आदत पड़ गई है वरना हम-तुम का किसी दिकू से कमज़ोर हैं जो उनकी जूतियाँ चाटते रहें। देखते-देखते सारी ज़मीनें छीन गईं। आदमा का उके अपने तन पर भी अधिकार न रहने दिया। यह सब सहते चले जाने के कारण ही तो है। जिस रोज़ लोग साथ मिलकर उठ खड़े होंगे; अन्याय को साहस के साथ अन्याय कह सकेंगे, पर सब बंद हो जाएगा।"[2]

उरांव जाति हमेशा शराब की नशे में डूबी रहती है। शराब न पीने पर उरांव अपने जात से निकाल दिया जाएगा। सोनाराम ने देखा कि

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. सं: 85
2. मनमोहन पाठक - गगन घाटा घहरानी, पृ. सं: 118

लोग दाने के लिए तरस रहे हैं लेकिन ज़मीन बेचकर दारू पीते हैं। उनके आनुसार, दारु ही उरांवों के दिमाग को भोथरा कर देता है। इस नशे में किसी को यह मालूम नहीं पड़ता कि दिकू उन्हें गुलाम बना रहे हैं, उनकी ज़मीन पर कब्ज़ा कर लेते हैं।

पुलिस द्वारा एक रात खजुरा गाँव पर आक्रमण होने पर लोग दहशत से भर गया। बाहरी लोगों के वहशीपन का शिकार हुए बहू-बेटियों को देखकर गाँववाले वहाँ से भाग जाने का फैसला कर लेते हैं। आज तक लोग गाँवों से भागते थे, आज पूरा गाँव भागने के लिए मजबूर हुए। जंगल में ठेकेदार और सिपाहियों का राज था। लुपुंगा और खजुरा गाँववालों ने मिलकर जंगल में पहरा डाला। सबसे बुज़ुर्ग, पैरुगुनी सोचने लगता है कि गाँववाले बाहरीवालों को अतिथि मानकर सम्मान करते थे। उन्हें कुछ सिखाते थे, उनसे कुछ सीखते थे। उन्हीं मेहमानों की छाया से अब भय लगने लगा है।

अपना सबकुछ छीन लेने के कारण बियाबान जंगल में ड़रे हुए खरगोश की तरह रह रहे लोगों को देखकर सोनाराम व्याकुल हो उठा। उन्हें लगा कि आत्मसम्मान के उदय होने से ही ये लोग आगे बढ़ेंगे। उरांव जनजाति के भीतर जातीय स्वाभिमान जगाने के लिए सोनाराम ने साक्षरता और शराबबंदी जैसे महत्वपूर्ण कार्य किया जिसके फलस्वरूप उन लोगों में 'आत्मनिर्णय का अधिकार' जैसी बड़ी बात पैठाने में सोनाराम सफल हुआ। उरांव के आत्मसम्मान किस तरह उसने जगाया

वह 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास के अंत में प्रस्तुत सोनाराम के वक्तव्य से द्रष्टव्य है- "यह जंगल हमारा है बैसे ही हम गाछ का है। यहाँ के जानवरों का है। यहाँ की नदी, झरने, पहाड़ और ये खेत भी हमारा हैं। इन्हें किसी को बेचा नहीं जा सकता। हमारा शरीर, हमारी ताकत, हमारे माँ-बाप और गाँव-समाज का दिया है, हम उसे दूसरों को गिरवी कैसे रख सकते हैं। इसलिए कोई सेवकिया नहीं। हम जंगल में किसी को घुसने नहीं देंगे। हम अपनी धरती के नीचे का लोहा, कोयला किसी को कोड़ने खोदने नहीं देंगे। इस धरती और वन को दूसरों को देकर हमने बड़ी भूल की है। आज यह धरती, यह वन में बनिया, ठेकेदार, ज़मींदार और रेंजर ने दख़ल कर लिया, हमीं को हटा दिया। अगर किसी को काठ-लकडी चाहिए हमसे लो, अगर अनाज-पानी चाहिए हमसे लो, कोयला-लोहा चाहिए, हमसे लो। माँगकर लो। हमारा ताकत-परिश्रम चाहिए, हमसे माँगकर लो। छीनकर, छल-बल से, ड़रा-धमकाकर नहीं, उचित कीमत देकर और जो हमको चाहिए, बदले में हमें वह दो। अपनी चीज़ की कीमत हम तय करेंगे।"[1]

'संथाल जाति', देश के अतिप्राचीन लोगों में से हैं। ये लोग बंगाल के वीरभूमि, उड़ीसा के कटक और बिहार के पलामू, हज़ारीबाग़, रांची, संथाल परगाना आदि जिलों में रहते हैं। संथाल जाति की ज़िंदगी की रूपरेखा संजीव कृत 'धार' उपन्यास के इन वाक्यों में व्यक्त

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा धहरानी, पृ. सं: 250

है- "पानी का पाइप हमारा छाती पर से गुज़रता हमको एक बूँद पानी नई, रेल लाइन बगल में है मगर हमारा ख़ातिर सौ कोस दूर, वोट देने को हमको आज तक कोई बोला नई, हमरा चिट्ठी-पत्र निहाल सिंह के दूकान के पते पर आता। हमारा कोई पता ठिकाना नई।"[1] बाहर के लोग इन्हें कंगाल कहकर दूर भगाते हैं। ये लोग अब न जंगल के रहे, न शहर के और न गाँव के।

तेजाब की फैक्ट्री बाँसगड़ा गाँव के पर्यावरण को दूषित करने के साथ-साथ लोगों को परंपरागत कृषिकार्य से भी वंचित करके बरबादी के कगार पर ला पटका। बाँसगड़ा गाँव में प्रवेश करने पर गाँव-भर खाँसी और उबकाईयों की आवाज़ें ही सुनने देंगे। तेजाब के कारखाने से खेती-बाड़ी, कुआँ, पोखरा सब खराब हो गये हैं। गाँव से बाहर राँची, हज़ारबाग़ से मज़दूर आये लेकिन सब बीमार होकर भाग गये। संथाल जनजाति की छाती पर ज़हर का फैक्ट्री बनाकर उन्हें पूरी तरह निरीह बना दिया।

कोयला कंपनी ने ग्रामीणों को बहला-फुसलाकर, नौकरी के झूठे वायदे करके खनन कार्य शुरू कर दिया। किसानों के खेत खदानों में बदल गए। जीने के लिए वे अपनी ही जमीनों से ख़तरे उठाकर, कोयला चुराकर बेचने को मजबूर हो गये। अच्छा-ख़ासा आदिवासी किसान पहले मज़दूर बना, फिर विस्थापित और अब कोयला चोर। ट्रकों

---

1. संजीव - धार, पृ. सं: 57

में चोरी किया गया कोयला जाता है तो कोई नहीं पकड़ता लेकिन साइकिल पर कोयला लादकर गये मज़दूर चोरी के इलज़ाम में पकड़ा जाता है।

बाँसगड़ा गाँव प्रायः उज़ाड़ गया था। अवैध कोयला खनन गड्ढों में पानी भर जाने से कोयला चोरी बंद था। ऐसी स्थिति में उन लोगों को ठेकेदार सस्ती मज़दूरी पर काम करने के लिए ढोर डाँगरों की तरह हाँक ले जाते हैं। आदिवासी कड़ी मेहनत करते हैं लेकिन उन्हें न उचित मज़दूरी मिलती है, न दो जून की रोटी। इस स्थिति के मुक्ति हेतु, इस उपन्यास की नायिका मैना, अविनाश शर्मा तथा अन्य आदिवासी लोग सहकारिता के परिप्रेक्ष्य में जनखदान का निर्माण करते हैं। जनखदान आशातीत प्रगति करती है लेकिन व्यवस्था उसे खारिज करती है। विकास के नाम पर जनजातियों के विनाश और विस्थापन इस उपन्यास की मूल चिंता है।

आज की सामाजिक व्यवस्था में आदिवासी वर्ग को खदेड़कर विस्थापित किये जा रहे हैं और वे बंजारों की तरह इधर - उधर भटकते-फिरते रहते हैं। आदिवासी के प्रजातांत्रिक व्यवस्था को खत्म कर दिया गया और केवल शोषित और शोषक का रिश्ता रह गया। हाशिए पर रहनेवाले इन भोली जातियों के शोषण व दयनीय दुर्दशा के लिए मुख्य रुप से शिक्षा की कमी उत्तरदायी है। सरकारी विकास कार्यक्रमों का पूरा लाभ आदिवासियों को नहीं मिल रहा है। सरकारी गणों ने इनके

अधिकारों की रक्षा करने की बजाए इनकी दुर्दशा का लाभ उठाया। इस प्रवृत्ति ने जनजातीय लोगों के आर्थिक आधार को तहस-नहस कर दिया और उन्हें दरिद्र बना दिया।

वस्तुत : विकास के नाम पर लोगों को जिस तरह उनकी ज़मीन से बेदख़ल कर उन्हीं के 'हाल' पर जीने के लिए छोड़ दिया गया, यह एक विचारणीय मुद्दा है। कारण जब औद्योगिक क्रान्ति के लिए सरकार इकाईयों की स्थापना करती है तब प्रत्येक प्रभावित परिवार के एक व्यक्ति को नौकरी दी जाती है। परिणाम यह होता है कि परिवार का जो सदस्य नौकरी पाता है वह धीरे - धीरे समाज और बाहरी संस्कृति से जुड़कर आधुनिक तरीक़े से जीवनयापन करने लगता है। दूसरी तरफ़ उसके परिवार में असमानता की स्थिति उत्पन्न होने लगती है तथा एक समय ऐसा आता है जब वह व्यक्ति अपने परिवार से अलग हो जाता है। उसके परिवार के शेष सदस्य पुनः पुरानी आर्थिक और सामाजिक अवस्था में जीने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस परिवार की नई पीढ़ी जिसके पास न तो ज़मीन होती है और न ही नौकरी - अपने ही समाज में एक अजनबी की ज़िंदगी जीने के लिए अभिशप्त होते हैं और वे प्रशासनिक और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ़ पहले तो विद्रोह और फिर आंदोलन करने को बाद्य हो जाती हैं। इस तथ्य को सुभाष पंत ने अपने 'पहाड़ चोर' उपन्यास में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है।

'पहाड़ चोर' उपन्यास सत्रह मोची परिवारों से भरा झण्डूखाल में

पहाड़ चोरों द्वारा मचाए गए उत्पात से उपजे जनाक्रोश की महागाथा है। दरअसल, हर इंसान इस धरती पर जीने के लिए पैदा होता है। लेकिन सामान्य जनता के अधिकारों को भी महाबली लोग छीनते हैं। पूरे देश में जंगलों और पहाड़ों का अस्तित्व ख़त्म कर देने पर आमादा देशी पूँजीपतियों के कारण ही हिमालय के हिमनद आलोप हो रहे हैं, जंगल नष्ट हो रहे हैं, पर्यावरण का संतुलन बिगड़ रहा हैं। आज़ादी-प्राप्ति के अनेक वर्षों बाद जीपों का काफ़िला झण्डूखाल गाँव में प्रकट होता है। लोग समझते हैं कि गाँव में आज़ादी आ रही है। यह आज़ादी वहाँ खड़े चूने के पहाड़ों को लूटने के लिए गाँववालों को तरक्की के सुनहले ख्वाब दिखाकर पहले सड़क के लिए उनकी ज़मीनें हथियाती है और फिर पहाड़ों का उत्खनन शुरू कर देती है।

सारी कार्ययोजना का मुखिया, मोहन बाबू है जो इस क्षेत्र की सबसे आसरदार लाइमस्टोन कंपनी, एस.ओ. ओबरी लाइमस्टोन प्रा. लि. का मुख्य कारिन्दा है। मोहन बाबू झण्डूखाल गाँव की सबसे कमज़ोर नस, साबरा के माध्यम से गाँववालों के बीच अपनी पैठ जमाते हैं। लोगों को फुसलाकर झईनामाइट लाने और कच्चा माल ले जाने के लिए सड़क बना लेता है। कुछ लोगों को कंपनी में काम भी दे देते हैं।

खदान ने झण्डूखाल की औरतों से उनका पहाड़ छीन लिया। लकड़ी और घास की खोज में अब उन्हें दूर भटकना पड़ता। इस भटकाव में औरतों की टोली दूर निकल जाती और उसमें शामिल

पिरिया एक दिन अचानक पानी के अभाव में प्राण सूख देती है। उनके लाल ब्लाउज़ को झंड़ा बनाकर उसका पति, महेसु कंपनी के विरुद्ध विद्रोह का पहला बिगुल बजा देता है। धीरे-धीरे, एक-एक गाँववासी पर विपत्तियों का पहाड़ टूटना शुरू हो जाता हैं।

पूँजीवाद और व्यवस्था अपने आर्थिक लाभ के लिए देश के नक़्शे से झण्डूखाल का अस्तित्व मिटा देते हैं। पहाड़ को खनन के लिए लीज़ पर देने में सबसे बड़ी बाधा थी उसकी तलहटी में बसा मोचियों का गाँव, झण्डूखाल। इस गाँव की वजह से घूमती फाइलों के दाम बढ़ गये। अंततः एस.ओ.ओबरी कंपनी ने अपने राजनीतिक असर और पैसों की ताकत पर पहाड़ हथिया लिया और उसे पन्द्रह साल की लीज़ पर खनन का अधिकार मिल गया। इसके लिए कंपनी ने जो पहाड़ का नक़्शा प्रस्तुत किया उसमें झण्डूखाल गाँव का अस्तित्व नहीं था।

पहाड़ की तलहटी में बसे अपने गाँव और जीवन का अस्तित्व संकट में घिर जाने पर लोगों में चूना कंपनी द्वारा दिखाये गये तरक्की के ख़्वाब की हक़ीकत खुल जाती है। उपन्यास का पात्र, रामपत के अनुसार, "डायनामाइट पहाड़ को ई नी, म्हारे को भी तोड़ता है। मालूम नी था ऐसा होगा, हमने तो अच्छाई सोचा था। हम ठगे गये। म्हारे, खेत गए, पेड़ होर पहाड़ गए। आदमी गए, आदमियों के बीच का पियार-मोहब्बत गया। बदले में मिला क्या? ये धमाके और धूल।"[1]

---

1. सुभाष पंत - पहाड़ चोर, पृ. सं: 71

झण्डूखाल वाले, गाँव से पहाड़ तक जानेवाली सड़क को रोकने में सफल हो जाते हैं। चूना पन्थर की आवाजाही रुक जाती है, कंपनी का काम बंद हो जाता है। साबरा के नेतृत्व में कंपनी में काम करनेवाले अपनी भौतिक सुविधाओं के छिन जाने के ड़र से आंदोलनकारियों का प्रतिरोध करने सड़क पर उतर जाते हैं। कंपनी के गुंडे जानबूझकर इस आंदोलन को खूनी संघर्ष में बदल देते हैं। पूँजीवाद की लठैत बने पुलिस पूरे गाँव को हवालात में डाल देती है। बाद में, परिस्थितियों को पहचानकर साबरा आंदोलन का बागडोर अपने हाथ में ले लेता है। गाँववाले पहाड़ चोरों को खदेड़ने में सफल हो जाते हैं।

पहाड़ों का अंधाधुंध उत्खनन करनेवाले, जंगलों की कटाई करने वाले देशी पूँजीपति ही 'पहाड़ चोर' हैं। देश की तरक्की के नाम पर इन लोगों ने प्राकृतिक संपदा की जमकर लूटपाट करते हैं। देश की राजनीति और व्यवस्था भी इनके साथ लूट में शामिल हैं।

बड़े बाँध समय की आवश्यकता है। जनता के हितैषियों ने बाँधों का यह कहकर विरोध किया कि लोगों का घर और रोटियाँ छीनी जा रही हैं। न्यायपालिका के अनुसार मूल समस्या बाँध नहीं, विस्थापन है। भारत ने टिहरी को डूबते देखा, सरदार सरोवर बाँध के लिए आसपास के आदिवासी गाँवों को डूबते हुए देखा, एक हँसता-चहकता शहर और गाँव कैसे धीरे- धीरे डूब में समा जाता है, यह मन को उदास कर देता है। इसी उदासी ने अमिता शर्मा को झकझोरा और उन्होंने अपने

उपन्यास 'विस्थापित' में विस्थापन की समस्या को प्रस्तुत किया है।

'विस्थापित' उपन्यास बहुत बारीकी से दो स्तरों पर समानांतर चलता है। एक ओर आदिवासियों के विस्थापन की समस्या है तो दूसरी ओर बेहद ईमानदार और उदार प्रशासनिक अधिकारी, अनंद शंकर के विस्थापन की समस्या है।

बाँध बनने के कारण आदिवासियों की ज़मीन डूब क्षेत्र में आ गई, उन्हें घर छोड़कर जाने का आदेश प्रशासन द्वारा दिया जा चुका है। उन्हें दूसरी जगह पुनर्वासित किये जाने का आश्वासन भी दिया गया है। लेकिन राजनेताओं के वरदहस्त से भूमाफ़िया आदिवासियों की ज़मीन को हड़प लेता है और मनमाने दामों में बेचने लगता है। इस स्थिति में भूमाफ़ियाओं, राजनेताओं और प्रशासनिक अधिकारियों के, शोषण से निरक्षर आदिवासियों को मुक्त करने की ज़िम्मेदारी एनजीओ'ज़ के कंधों पर आते हैं। वे धरना करते हैं, मीडिया में आग उगलते वक्तव्य देते हैं और आदिवासियों के प्रति आस्था जगाती हैं। लेकिन वे लोग भी इस अवसर को अपने राजनीतिक भविष्य को चमकाने के लिए इस्तेमाल करते हैं। 'अनुसंधान' नामक एनजीओं का मुखिया, कमल की लड़ाई प्रशासन से है। वह प्रशासन की लापरवाही और दिशाहीनता को आदिवासियों के शोषण केलिए उत्तरदायी मानता है। समाजशास्त्र में शोध कर रही सुधा, आनंद को चाहते हुए भी कमल से प्रभावित है। बाँध के विस्थापन से जूझ रहे आनंद के सामने कमल और सुधा आ जाने के

कारण वह मानसिक रुप से विस्थापित हो जाता है।

आनंद, सरकार और मंत्र का कोपभाजन बनने के बाद भी ईमानदारी से काम करता है। विस्थापिन आदिवासियों के प्रति उनकी संवेदना है लेकिन व्यवस्था का अंग होने के कारण वह मानसिक रुप से झकझोरता रहता है। प्रशासन संवेदनशील रहकर भी सत्ता तंत्र की मुँह की ओर देखता रहता है, वे जैसा कहते है वैसा ही करते है। इस स्थिति में आनंद जैसे ईमानदार अफ़सर कुछ नहीं कर पाते सिवाय कुछ लोगों का भला करना का। अपने आदर्श और व्यवस्था के बीच बँधे रहने के कारण वह कन्फ़्यूज्ड़ हो जाता है।

'विस्थापित' उपन्यास में आदिवासियों की विभिन्न समस्याएँ जैसे बाँध-निर्माण और विस्थापन को उभारने के साथ राजनेताओं, पत्रकारों, एनजीओ तथा स्थानीय भूमाफ़ियाओं के नीयत को भी रेखांकित करता है। आदिवासियों की समस्या अपनी ज़मीन और घर के बदले घर और ज़मीन पाने की है साथ ही अपने जड़ों से जुड़े रहने की भी है। बदलते परिस्थितियों से विचलित आदिवासी समूह का फ़ायदा तथाकथित सभ्य समाज उठाता हैं।

प्रतिभा राय कृत 'आदिभूमि' उपन्यास उड़ीसा के 'बोंडा जनजाति' के जीवन और परिवेश का जीवन्त कथा है। आज के संस्कृति और वैश्वीकरण के दौर में विकास के नाम पर आधुनिक समाज द्वारा हो रहे उनके दोहन-शोषण और उससे उपजी विकृतियों की गाथा है 'आदिभूमि'

उपन्यास। उड़ीसा के कोरापुट जिले में स्थित बोंडा पहाड़ में अत्यन्त आदिम अवस्था में बोंडा जनजाति जी रहे हैं। आपस में मारकाट करने के कारण वे अपराधी के रुप में कुख्यात है।

भारत के जन-जाति जीवन सभ्य समाज के पदभ्रष्ट अंगों से अछूता नहीं हैं। दैहिक-आर्थिक शोषण के अत्याचार के थपेड़ों को सदियों से झेल-झेलकर आदिवासियों ने समय के साथ समझौता कर लिया है।

बोंडा पहाड़ में स्थित आठ प्राइमरी स्कूलों की सूची केवल शिक्षा विभाग के पास है। स्कूलघर के अभाव में शिक्षक अपने गाँव में रहकर वेतन पाते हैं। खराबाबू मास्टर सत्रह सालों के अपनी नौकरी में एक बार भी स्कूल नहीं गया । बोंड़ा पहाड़ तक सड़क न होने के और रहने के लिए और पढ़ाने के लिए समुचित व्यवस्था न होने के कारण वह हर साल घर पर रहकर स्कूल से संबंधित सभी कागज़ात तैयार करते हैं।

बोंडा पर्वत पर सरकारी दफ़्तर खुलने से बोंडा जात परेशान हो उठता है क्योंकि उनकी धारणा है कि सभ्य समाज उनकी जाति को डुबो देगा। अर्थ के बदले एक अर्थविमुख जात को सभ्य बनाने के लिए सरकारी अफ़सर, सीतानाथ बोंडा इलाके में आ जाते हैं। अभाव-बोध की स्थिति पैदा करके वह बोंडा जात को अर्थ की आवश्यकता अनुभव कराता है। बोंडा जाति के लोग सरकारी अनुदान प्राप्त करने लगे। बोंडनी, साड़ी पहनकर प्रोजेक्ट ऑफिस में काम करने लगी। बाहरी

समाज के लिए बोंडा जनजाति और उनकी ज़िंदगी प्रदर्शिनी की चीज़ बन जाती है। बाहरी दुनिया से संपर्क बढ़ने पर बोंडा समाज भी अब सुविधाएं तलाशने लगे।

1970 तक स्वयंसेवी संस्थाएं सहज-सेवा दृष्टिकोण के आधार पर अपना कार्य करती रही। उन लोगों ने सही मायनों में आदिवासियों के उत्थान और जागरण का काम किया। बदलते दौर में उनकी नज़रिया भी बदलता गया। कुछ संस्थाओं में आदिवासियों को पार्टी-हित में काम में लेने की प्रवृत्ति बढ़ी तो कुछ संस्थाएँ सरकारी दफ़्तर के रुप में परिवर्तित होती गईं। आदिवासियों के नाम पर मिल रहे पैसे उनकी प्रगति के लिए इस्तेमाल नहीं किये गये। कई संस्थाओं में तो कार्यालय की साफ़-सफ़ाई के लिए भी किसी आदिवासी को रोज़गार नहीं दिया गया।

जनजाति से युक्त दुर्गम इलाक़े आज विकास के नक़्शे पर ज़रुर उभर आया मगर भूख-गरीबी-अकाल मौत ने उन इलाकों का साथ नहीं छोड़ा। उनके बीच हो रही भुखमरी की ख़बरें आज आम बात हो चुकी हैं। जब जनजातियों की अर्थियां अनाज के अभाव में उठी, राजनीतिज्ञ इन ख़बरों को झूठे और आधारहीन बनाया। राजनीतिज्ञ वोट पाने के लिए आदिवासियों के सामने झूठे वादे किए और अधिकार पाते ही सब वादें सुविधापूर्वक भूल गए।

ज़नजाति विकास के नाम पर अनेक योजनाएं बनती हैं, अनुदान

प्राप्त किये जाते हैं, शैक्षिक प्रकल्प बनते हैं, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा और रोज़गार की योजनाएँ बनती हैं किन्तु आदिवासियों को इसका पता तक नहीं चल पाता। सरकार और सभ्य समाज जनजातियों को अपने लाभ का माध्यम बनाने के षड्यन्त्र में हैं। भाषा की बाधा के कारण अधिकारियों के द्वारा जनजातियों के कथनों को अपने स्वार्थों के अनुसार तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत कर दिया जाता है, उनकी सामाजिक विशेषताओं को विकृत कर दिया जाता है। जाँच कमेटी को गुमराह किया जाता है। विकास के नाम पर उनके अस्तित्व को ही चुनौती दी जा रही है।

बोंडा विकास योजना की जाँच करने आये सभापति और बोंडा जाति के बीच भाषा की बाधा के कारण संवाद संभव नहीं हो सका। अनुवादक बने योजना निदेशक किस तरह पूरी बातचीत को अपने फ़ायदे के अनुसार प्रस्तुत करते हैं, इसका उत्तम उदाहरण 'आदिभूमि' उपन्यास में है-: "सभापति- 'आपके गांव में कोई बँधुवा आदमी है?' 'उइ...उइ...हम सब बँधुवा हैं', काटू ने अपनी भाषा में कहा। उसका अनुवाद हुआ, 'हममें से कोई भी बँधुवा नहीं है'। सभापति - 'गुड...गुड, सब बच्चों को स्कूल भेजो। किताबें मुफ़्त मिलेंगी। मास्टर मदद करेंगे। तुम्हारे बच्चे मंत्री, कलक्टर, डाक्टर बन सकेंगे। गाँव में स्कूल है तो? आठ - आठ स्कूल। तुम न पढ़ोगे तो नुकसान तुम्हारा है। शराब पीना बुरा है। शराब छोड़ो - हिंसा छोड़ो - आदमी बनो'। यह सुनकर काटू गुस्से से काँप उठता है - 'स्कूल का घर कहाँ जो बच्चे पढ़ें? यहाँ तो

आश्रम स्कूल है, वहाँ न मास्टर न पढ़ाई। सिर्फ घृणा ही घृणा। तभी मेरे बेटे सोमरा को दूर गाँव के आश्रम स्कूल भेजा। वहाँ पता नहीं नेह मिला या घृणा। कॉलेज गया - साल भर रहा - बस घृणा ही घृणा। सब अनार्य कह नाक-भौं सिकोड़ते। आख़िर 'अनार्य हटाओ आंदोलन' में देश जला। आर्य बच्चों ने खुद को जलाया। कॉलेज बंद! मेरा बेटा बिना आर्य बने लौटा। अब वह हमें घृणा करता है, तुम्हें घृणा करता है। गाँव के सभी बच्चों की दशा यही है। कहाँ पढ़ें वे? शराब पीने से रोकते हो। तुम्हारे प्रोजेक्ट बाबू लोग - गुलं बाबू-सब पीते हैं शराब हमसे लेकर, माँगकर........।' अनुवादक द्वारा इसका अनुवाद था - 'सब खुशी से कह रहे हैं। कह रहे हैं - हमारे बच्चे खूब शिक्षित हो रहे हैं।' "[1]

जनजातियों के सुधार के लिए अनेक योजनाएं तैयार की जा रही हैं। लेकिन आदिवासी समझ नहीं पाते हैं कि उनका विकास किया जा रहा है या शोषण। वे लोग आवेदन - पत्र लिखवाने के वास्ते सरकारी कार्यालय के बाहर रोज़ जाकर खड़े हो जाते हैं और कर्मचारियों के मज़ाक का पात्र बन जाते हैं । विकास के लेबल पर एक लंबे अरसे से इनके साथ हो रहे शोषण आज आदिवासी समाज की नियति बन चुका है और चाहकर भी ये लोग उससे मुक्त नहीं हो पाते । अपने अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न बने बदलती परिस्थितियों से वे लोग ड़रे और सहमे हुए हैं। आदिवासी क्षेत्र में जाकर सरकारी कर्मचारी उनके पक्ष लेने की

---

1. प्रतिभा राय - आदिभूमि, पृ. सं: 397-398

अपेक्षा सामंत से जा मिलते हैं । परिणामत : आदिवासी जो कभी किसान था वह मज़दूर बन जाता है और धीरे - धीरे वह भूमिहीन होकर विस्थापन का दर्द झेल जाता है।

जंगलों में शताब्दियों से पल रहे वनवासी प्राकृतिक आपदाएं और बाहरी शोषित व्यवस्था के पाटों में पिसते रहे हैं । वे अपनी जिजीविषा और आंतरिक ऊर्जा से प्राकृतिक आपदाओं से तो जूझ जाते हैं । किन्तु मानवीय आपदाएं अपने चेहरे पर अनेक तरह के मुखौटे लगाकर आती हैं और इन्हें पूरी तरह निचोड़कर तड़पने भी नहीं देती । कभी भलाई के नाम पर सरकारी कर्मचारी-अधिकारी जनजातियों को ठगते हैं तो कभी स्वयंसेवी संस्थाओं और सेनाओं के लोग । लूट के चक्रव्यूह में फंसे इन वनपुत्रों के लिए बनी कल्याण-योजना का सर्वाधिक लाभ कस्बों , शहरों या महानगरों में रह रही इन्हीं के बीच की 'मलाईदार परत' उठाती हैं। बीहड़ों में रहनेवाला वनवासी तो आज भी महाजन के घर में जन्म लेता है, बाबू की बेगारी में खटता है और साहू के कर्ज़ में मर जाता है।

विकास की पूरी प्रक्रिया को देखते हुए यही लगता है कि आदिवासी समाज को राजनीति, मानवीय दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अपनी ज़रुरतों को देखते हुए अपने अंदर शामिल कर रही है। आदिवासियों की जिस भूमि और जंगल को काटकर आज औद्योगिक साम्राज्यों की स्थापना की गयी है उन्हें देखकर यही लगता है कि यदि सरकार को उनकी ज़मीनों की ज़रुरत महसूस नहीं होती तो वह शायद ही इन

आदिवासियों के जीवन में झाँकने की कोशिश करती ।

वस्तुतः विकास की तमाम प्रक्रिया और राजनीतिक नारों के बावजूद आज भी आदिवासी समाज उपेक्षित और पिछड़ा हुआ है । जीवन के हर मोड़ पर वह शेष समाज के लिए हास - परिहास का केन्द्रबिन्दु है। साँस्कृतिक दृष्टि से यह समाज जितना ही समृद्ध है आज सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उतना ही पिछड़ा रहा है। आज भी ये समाज पहाड़ी क्षेत्रों में संघर्षपूर्ण जीवन जी रहे हैं। वैज्ञानिक प्रगति की जो थोड़ी-बहुत सुविधा इन्हें मिलती है उसके लिए इन्हें इतनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है, जिसकी हम कल्पना भी न कर सकते हैं। जब भी एक नया औद्योगिक साम्राज्य स्थापित होता है, सदियों से स्थापित जनजातियों का घर-बार उजड़ जाता है। न चाहते हुए भी ये लोग विस्थापित हो जाते हैं। पुनर्वास के नाम पर सरकार द्वारा इन्हें जो भी ज़मीन और शुल्क प्रदान किया जाता है, वह उतना नहीं होता है कि ये फिर नये सिरे से अपना जीवन व्यतीत कर सकें।

जब तक जनजाति समाज को साथ में लेकर विकास - योजनाएं नहीं बनायी जाएगी तब तक वे भारतीय जीवन की मुख्यधारा में शामिल नहीं हो पायेंगी। व्यवस्था बदलती है तथा पुराने लोगों की जगह नये लोग आ जाते हैं परन्तु शोषण की प्रक्रिया का सिलसिला अनवरत चलता रहता है। आज भी आदिवासी समाज , विकास की प्रक्रिया के एकदम पास रहते हुए भी अपने आप को शोषित और उपेक्षित महसूस

कर रहा है। जब तक तथाकथित सभ्य समाज की मानसिकता नहीं बदलेगी और वह खुले दिमाग से जनजाति समूह को अपने जीवन का एक हिस्सा नहीं मानेगा तब तक यह समाज हाशिए की ज़िंदगी जीने के लिए विवश होता रहेगा। चाहे वह इसके खिलाफ़ कितना ही संघर्ष क्यों न कर लें!

उपसंहार।

उपसंहार।

उपन्यास, समग्र परिवेशों में फैलकर देश और काल की प्रामाणिक - चेतना से पाठकीय संवेदना को झकझोर देता है। समय और समाज की समस्याओं, आकुलताओं, चुनौतियों, अंतर्विरोधों, विसंगतियों और आधुनिक समाज की जटिलताओं को व्यक्त करने केलिए उपन्यास से भिन्न सफल और समर्थ माध्यम, आज दूसरा नहीं है। हिन्दी का समकालीन उपन्यास - साहित्य, व्यक्ति के माध्यम से समय और समाज की हालत को सामने लाया। दुनियाभर के मानव समाज के सामने एक अहम सवाल बनकर खड़े विस्थापन के दर्द को चित्रित करने वाले उपन्यास, समकालीन हिन्दी उपन्यास की एक नवीन प्रवृत्ति है।

मानव के ऐतिहासिक विस्थापन का आरंभ दस लाख वर्ष पूर्व से हुआ और उपनिवेशवाद और औद्योगीकरण से इस प्रवृत्ति में अधिक वृद्धि आयी। साम्राज्य की विपुलता केलिए शुरु हुए विस्थापन ने कालांतर में स्वेच्छापूर्वक, प्रेरित और विवशित विस्थापन को जन्म दे दिया। युद्ध और राजनीतिक कारणों से बीसवीं शताब्दी में विस्थापन बढ़ गया, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दुनियाभर में विस्थापन के नये अध्याय जोड़े गए। राष्ट्रों के विभाजन ने मानव जाति के भारी विस्थापन को जन्म दे दिया।

विस्थापन, दुनिया भर के लोगों से सुरक्षा के एहसास को छीन ले गया। लोग उस वातावरण से बेघर हुए जो उन्हें अस्तित्व का एहसास कराता था।

जीवन में सुअवसर प्राप्त करने केलिए लोगों ने नए राष्ट्रों व प्रदेशों की ओर प्रस्थान किया । परन्तु भारी सॉंस्कृतिक अंतर के रहते विस्थापित लोग नए देश में हमेशा अयाचित के रूप में रह जाते हैं। भीड़ में अकेले रहने के लिए अभिशप्त प्रवासी भारतीय समस्त सुविधाओं के बीच में रहते हुए भी जीवनभर परायेपन के एहसास को भोगते रहते हैं। राष्ट्र विभाजन से जुड़े विस्थापन में छिपी अनिश्चितता और भय से मुक्त होना सहज न होने के कारण लोगों पर इसकी काली छाया जीवनभर पड़ी रहती है। भौगोलिक विस्थापन को प्रोत्साहित करने में भूमंडलीकरण की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है। अंतर्राष्ट्रीय समवायों के आगमन के चलते अनेक स्थानीय लोगों को विस्थापन का दर्द सहना पड़ रहा है ।

अपने जन्मस्थान और निवास - स्थान छोड़कर एक नये स्थान की तरफ़ गमन करने की प्रक्रिया ही विस्थापन है। इससे संबंधित व्यकितयों के जीवन के समस्त पक्षों को विस्थापन जीवनपर्यन्त प्रभावित करता है। अपनी इच्छा से लोग विस्थापित होते हैं, साथ में मजबूरीवश या बलपूर्वक भी विस्थापन घटित होते हैं। आर्थिक सुरक्षा केलिए हो रहे प्रवजन, विस्थापन का एक प्रमुख रूप है। नये वातावरण में पहुँचने पर व्यक्ति की मान्यताएँ बदलने लगती हैं, सॉंस्कृतिक टकराहट उत्पन्न होती है। लोग

नये परिवेश के घुटन - भरे माहौल में जीने केलिए विवश हो जाते हैं।

विस्थापन, एक सीमा को पार करने का एकमात्र कार्य नहीं है बल्कि यह प्रक्रिया मानव-जीवन के समस्त पक्षों को जीवनपर्यन्त प्रभावित करता रहता है। जीवन की प्रगति के साथ-साथ विस्थापन के मूल अर्थ में भी बदलाव आया है। अपनी इच्छा से लोग एक स्थान से विस्थापित होते हैं, साथ में मजबूरीवश या बलपूर्वक भी विस्थापित हो जाते हैं। विस्थापन करने के लिए मजबूर हुए लोगों की अवस्था बहुत चिंतित है। अपने देश या मिट्ठी से बलपूर्वक निकालने से लोग मानसिक रूप से टूट जाते हैं और दूसरी जगह पर रहते हुए भी उनके मन में हमेशा मूल मिट्ठी की यादें ताज़ी रहती हैं और वे वहाँ लौट जाने के लिए तरसते रहते हैं।

विस्थापन के रूपों में प्रमुख है प्रवजन या देशांतरगमन यानी एक देश से दूसरे देश में जाकर बसना। यह विश्व-व्यापी कार्यकलाप है जिसके पीछे सर्वथा आर्थिक कारण रहे हैं। लोग अपने घर-परिवार, देश और मिट्ठी से मजबूरन अलग होकर एक अन्य देश और परिवेश में चला जाता है। माहौल बदल जाने से ज़्यादातर लोगों की ज़िंदगी में उलझनें आती हैं। एक राष्ट्र के विभाजन से होनेवाले प्रवजन भी मजबूरी में किये गये विस्थापन हैं। अपने देश से मजबूरन निकाले गये लोग कुछ समय के बाद नए वातावरण से समझौता तो कर लेते हैं फिर भी उनके दिलों में अपनी मिट्ठी की यादें ताज़ी रहती हैं। अपने पर्यावरण और इलाके से लोगों का बलपूर्वक पलायन, विस्थापन के नवीन एवं प्रचलित रूप है।

विकास योजनाएँ एवं प्रक्रियाओं से बहुत से लोग विस्थापित हो जाते हैं। आंतरिक रूप से विस्थापित हुए लोगों की संख्या में आयी वृद्धि, आज की एक प्रमुख चुनौती है। ऐसे लोग शरणार्थियों के समान होते हुए भी किसी अंतर्राष्ट्रीय सीमा को पार न करने के कारण किसी भी अंतर्राष्ट्रीय योजना की सुरक्षा के हक़दार नहीं होते।

विस्थापन, एक कारूणिक परिघटना के रूप में दुनियाभर में गहरी सोच का विषय है। आजकल यह साहित्य का भी ज्वलंत विषय बन गया है। समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने विस्थापन से जुड़ी समस्याएँ और उसके विविध रूपों के निमित्त समाज पर हो रहे उनके व्यक्त प्रभावों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया।

प्रवासी भारतीयों की द्वन्द्वात्मक मन : स्थिति को अनेक समकालीन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं का विषय बनाया। ये उपन्यास, क्षणिक और अर्थहीन रिश्ते एवं अजनबीपन की मानसिकता से ग्रस्त हर संबंध की वास्तविकता का यथार्थ चित्रण करते हैं। उपनिवेश ताक़त भारत से हज़ारों मज़दूरों को 'गिरमिटिया' बनाकर ले गयी और अपनी अस्मिता और अस्तित्व केलिए संघर्ष किए ये लोग भारतीय विस्थापितों की पहली पीढ़ी है। विदेशों में इन भारतीय मज़दूरों की एहमियत 'गंधे कीड़े' से अधिक न थी। 1950 के बाद, उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा जीविकोपार्जन केलिए विदेश पहुँचे भारतीय, नस्लवाद और रंगभेद का शिकार बन गये। प्रवासी भारतीय के सम्मुख साँस्कृतिक, दार्शनिक, सामाजिक और यहाँ

तक कि नैतिक मूल्यों को लेकर भी बहुत दुविधाएँ आयीं जो मानसिक द्वन्द्व का कारण बन गया। ज़्यादातर भारतीय प्रवासी, हालात से समझौता कर लेते हैं। अपने अंदर एक 'लघुभारत' बसाकर जीनेवाले भारतीय लोगों के सामने असली संकट तब पैदा होता है जब पाश्चात्य संस्कृति में पली-बढ़ी उनकी युवा पीढ़ी उनसे हटकर सोचने लगता है। तभी भारतीय प्रवासियों में साँस्कृतिक द्वन्द्व का जन्म होता है। विदेशों में रहने केलिए अपने रवैया को बदलने केलिए अभिशप्त प्रवासी भारतीय हमेशा स्वदेश और विदेश के बीच उलझते रहते हैं। विदेश में अजनबी बनकर रहने केलिए मजबूर भारतीय प्रवासी, अपने देश के बदलते वातावरण में खुद को अजनबी महसूस करने लगते हैं। इस तरह वह हमेशा दो राष्ट्रों एवं संस्कृतियों के बीच पिसता रहता है। दोहरी ज़िंदगी जीने केलिए विवश हुए प्रवासी भारतीय, तनाव और अलगाव का अनुभव करने लगते हैं। अस्तित्व-संघर्ष से बेचैन हो उठने के परिणामस्वरूप वह शारीरिक तथा मानसिक रूप से विस्थापित हो जाता है।

विभाजन, भारतीय इतिहास की एक बहुत बड़ी त्रासदी है। 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र होने के साथ ही अमानवीय कारनामों का सिलसिला शुरू हो गया। यह दुर्घटना, लाखों के स्थानांतरण की समस्या से जुड़कर और भी भयावह हो उठी। विस्थापन से निपटने केलिए समुचित योजना के अभाव में लोग बुरी अवस्था में फंस गये। भारत-पाक विभाजन के फलस्वरूप करोड़ों लोग सीमा के दोनों पार विस्थापित हो

गये। विश्व इतिहास में भी यह सबसे बड़ा विस्थापन था। लोग अपने जन्मस्थानों से विस्थापित होकर दिशाहीन पत्तों की तरह चारों ओर बिखेर गये। साँप्रदायिक शक्तियों के बर्बर तांड़व ने मानवीय मूल्यों को ध्वस्त कर लिया। स्वतंत्रता के नाम पर देश को 'महारक्तदान' करना पड़ा। विभाजन से शारीरिक रूप में विस्थापित हुए लोग अनेक मुश्किलों से गुज़रकर खुद को समाज की मुख्यधारा में शामिल करने में सफल हुए। लेकिन विभाजन, भारत के कुछ संप्रदायों केलिए मानसिक विस्थापन का कारण बन गया। विशेषकर मुसलमानों की स्थिति, विभाजन के बाद अत्यन्त दयनीय बन गयी। मुस्लिम समाज का संपूर्ण अस्तित्व ही विभाजित हो गया था। विभाजन से जुड़े विस्थापन के दर्द और ज़मींदारी व्यवस्था की समाप्ति से उत्पन्न आर्थिक विपन्नता ने भारतीय मुसलमानों को समाज के हाशिए पर रख लिया। उनके ऊपर पड़े शक़ की नज़र एवं हर कदम पर देशप्रेमी होने का प्रमाण देने की नौबत ने उन्हें आंतरिक रूप से विस्थापित कर लिया। विभाजन दीखने में ज़मीन का था लेकिन हक़ीकत में यह घटना अनेक लोगों के विस्थापन का कारण बन गया, जिससे उपजी पीड़ा से आज तक भारतवासी मुक्त नहीं हो पाये हैं।

किसी भी जनजाति केलिए, ज़मीन उनकी पहचान और संस्कृति का हिस्सा है। स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास के साथ जनजातियों का विस्थापन भी शुरू हुआ। देश के आधुनिकरण के साथ-साथ उनकी ज़मीनें भी उनसे छीनती गयीं। परिणामतः उनकी पुश्तैनी ज़मीनों से वे

विस्थापित होते गये। सरकारी हस्तक्षेप व नीतियों के साथ तथाकथित सभ्य समाज द्वारा उनपर हुए अत्याचार भी उनके विस्थापन का मुख्य कारण बन गया। औद्योगीकरण, सिंचाई परियोजनाएं तथा अन्य विकास कार्यों के निर्माण केलिए सरकार द्वारा भारी मात्रा में ज़मीन-अधिग्रहण होने के कारण लाखों लोग विस्थापित बन गये जिनमें जनजातियों की संख्या अधिक है। परिणामस्वरूप, ये लोग समाज की मुख्यधारा के हाशिए पर चले गए। सरकार के नेतृत्व में जनजातियों के समुचित विकास को लेकर लिए गये सकारात्मक प्रयत्नों के बावजूद भी उनकी समस्या गंभीर होती जा रही है। भारत के लगभग दो करोड़ जनजाति, विकास कार्यों से उत्पन्न विस्थापन के शिकार बन गये। विकास कार्यक्रमों का नाम लेकर साहूकार, ठेकेदार, सरकारी अधिकारी वर्ग तथा उद्योगपतियों ने इन जनजातियों का जानलेवा और अमानवीय शोषण किया है। आज़ाद भारत में बनाए गए विकास - एजण्डा का भारी असर जंगलों पर पड़ा जिसके कारण जनजातियों को उनके घरनुमा जंगल से अलग होना पड़ा। अगर इन योजनाओं से सौ लोगों का कल्याण हो रहा है तो लगभग पाँच लोग विस्थापित हो रहे हैं।

विकास के नाम पर अनेक योजनाएँ बनती हैं लेकिन यह सब सरकार और सभ्य समाज केलिए जनजाति समूह को अपने लाभ का माध्यम बनाने का एक षड्यंत्र मात्र है। अपनी पैतृक धरती से विस्थापित हुए इन लोगों को सरकारी तंत्र ने अपनी बदनीयत योजनाओं से साँस्कृतिक

विस्थापन के कगार तक पहुँचाया है। उनके संसाधनों का अधिग्रहण और हस्तांतरण इसी तरह ज़ारी रहेगा तो भारत की अतिप्राचीन जनजातियां संभवतः विलुप्त हो जाएँगी। आज देश की राजनीति, जनजाति समूह को मानवीय दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अपनी ज़रूरतों को देखते हुए अपने अंदर शामिल कर रही है।

वैज्ञानिक प्रगति की जो थोड़ी-बहुत सुविधा एक राष्ट्र को प्राप्त होती है, उसके लिए देश के सामान्य नागरिक को जो कीमत चुकानी पड़ती है जिसकी कल्पना से हम सिहर उठते हैं। एक औद्योगिक साम्राज्य स्थापित होते ही लोग विस्थापित हो जाने केलिए बाध्य हो जाते हैं।

विकास, इंसान की मूलभूत ज़रूरत है। लेकिन आज की परिस्थिति में विकास एक ऐसा शब्द है जो बहुत विवादास्पद और आतंककारी रूप ले चुका है। बीते पचास-साठ वर्षों से विकास परियोजनाओं के नाम पर जिस तरह आबादी विस्थापित हो रही है, यह वाक़ई सोचने की बात है।

विकास के नाम पर विशाल परिमाण में विस्थापन हो जाने के बावजूद सरकार के पास उनकेलिए कोई समुचित पुनर्वास एवं पुनर्स्थापन की नीति नहीं है। विस्थापितों को सरकार पुनर्वास के नाम पर जो ज़मीन और शुक्ल प्रदान करती है, वह विस्थापितों के जीवन को पुनः बसाने में पर्याप्त नहीं होता।

जब तक देश के आम नागरिकों को साथ लेकर योजनाएं - चाहे

वह देश - विभाजन की हो या देश-विकास की - नहीं बनायी जाएंगी तब तक विस्थापन की भीषण छाया भी हमारे देश के ऊपर मंडराती रहेगी। प्रत्येक योजना के कार्यान्वयन के बहुत पहले से ही उससे प्रभावित होनेवाले नागरिकों के पुनर्स्थापन तथा पुनर्वास के बारे में सोचना प्रत्येक लोकतंत्र का कर्तव्य है। विस्थापित हो रहे जनता केलिए पर्याप्त पुनर्वास की व्यवस्था करना नामुमकिन है, लेकिन विस्थापितों केलिए आवश्यक पुनर्स्थापित योजनाएं बनाना सरकार की ज़िम्मेदारी हैं। नागरिकों के आँसुओं के ऊपर बनाई गई योजनाओं से अधिक महत्व उनकी संतुष्टि पर आधारित योजनाओं को है। जब तक प्रभावित समुदाय केलिए उचित पुनर्वास की योजना नहीं बनेगी तब तक विस्थापन की काली छाया भी समाज में विद्यमान रहेगी।

संदर्भ ग्रन्थसूची

आधार ग्रन्थ :

1. अनहद नाद — प्रताप सहगल
   किताबघर प्रकाशन
   24, अंसारी रोड़,
   दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002
   प्रथम संस्करण - 1999.
2. अल्मा कबूतरी — मैत्रेयी पुष्पा
   राजकमल प्रकाशन,
   1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
   दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002
   प्रथम संस्करण - 2000.
3. आधा गाँव — राही मासूम रज़ा।
   राजकमल प्रकाशन,
   1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
   दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002
   प्रथम संस्करण - 1966.
4. आग का दरिया — क़ुर्रतुलऐन हैदर।
   अनुवादक - नंद किशोर विक्रम।
   इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन,
   के-71, कृष्णनगर, दिल्ली - 110051
   प्रथम संस्करण - 2000.

5.	आदिभूमि	प्रतिभा राय। हिन्दी रूपान्तर : शंकरलाल पुरोहित। भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110003 प्रथम संस्करण - 2001.
6.	ए.बी.सी.डी.	रवीन्द्र कालिया। वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2004.
7.	ओस की बूँद	राही मासूम रज़ा। राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1970.
8.	और प्रसीना बहता रहा	अभिमन्यु अनत। राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1993.

9. कहानी एक परिवार की — गुरुचरण दास
अनुवादक - नरेन्द्र सैनी।
पेंगुइन बुक्स इंडिया (प्रा.लि)
11 कम्यूनिटी सेंडर, पंचशील पार्क,
नयी दिल्ली - 110017.
प्रथम हिन्दी संस्करण - 2005.

10. कठपुतली — देवेन्द्र सत्यार्थो।
आकाशदीप पब्लिकेशंस,
1/1073-डी, महरौली,
नयी दिल्ली - 110030
प्रथम संस्करण - 1997.

11. काले कोस — बलवंत सिंह।
राजकमल प्रकाशन,
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1982.

12. कितने पाकिस्तान — कमलेश्वर।
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली - 6
प्रथम संस्करण - 2000.

13. गगन घटा घहरानी — मनमोहन पाठक।
प्रकाशन संस्थान,
4715/21, दयानंद मार्ग,
दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1991.

14. जंगल जहां शुरु होता है — संजीव।
राधाकृष्ण प्रकाशन,
जी-17, दिल्ली - 110051
प्रथम संस्करण - 2000.

15. ज़िंदा मुहावरे — नासिरा शर्मा।
वाणी प्रकाशन,
21-ए, दरियागंज,
नयी दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1994.

16. झूठा सच — यशपाल।
विप्लव, लखनऊ।
भाग 1- दूसरा परिष्कृत संस्करण-1960.
भाग 2- द्वितीय संस्करण -1963.

17. टोपी शुक्ला — राही मासूम रज़ा।
राजकमल प्रकाशन,
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1977.

18.	डूब	वीरेन्द्र जैन।
		वाणी प्रकाशन,
		21-ए, दरियागंज,
		नयी दिल्ली - 110002
		प्रथम संस्करण - 1991.
19.	दो देश और तीसरी उदासी	महेन्द्र भल्ला।
		वाग्देवी प्रकाशन,
		सुगन निवास,
		चंदनसागर, बीकानेर- 334001
		प्रथम संस्करण - 2000.
20.	धार	संजीव।
		राधाकृष्ण प्रकाशन,
		जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110051
		प्रथम संस्करण - 1990.
21.	नानी	द्रोणवीर कोहली।
		किताब घर,
		24, अंसारी रोड,
		दरियागंज,
		नयी दिल्ली - 110002
		प्रथम संस्करण - 2001.

22. पहला गिरमिटिया — गिरिराज किशोर।
भारतीय ज्ञानपीठ,
18, इनस्टीट्यूशनल एरिया
लोदी रोड,
नयी दिल्ली - 110003
प्रथम संस्करण - 1999.

23. पहाड़ चोर — सुभाष पंत।
राजपाल एण्ड सन्ज़,
कश्मीरी गेट, दिल्ली - 6
प्रथम संस्करण - 2005.

24. पार — वीरेन्द्र जैन।
वाणी प्रकाशन,
21-ए, दरियागंज,
नयी दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 2004.

25. पासंग — मेहरुन्निसा परवेज़।
वाणी प्रकाशन,
21-ए, दरियागंज,
नयी दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 2004.

26. पांव तले की दूब — संजीव।
राधाकृष्ण प्रकाशन,
जी - 17, जगतपुरी दिल्ली - 110051
प्रथम पेपरबुक संस्करण - 2005

27. लाल पसीना — अभिमन्यु अनत।
राजकमल प्रकाशन
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1977.

28. विस्थापित — अमिता शर्मा।
वाणी प्रकाशन,
21-ए, दरियागंज
नयी दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 2005.

29. वाह कैंप — द्रोणवीर कोहली
किताबघर प्रकाशन,
24, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1998.

सहायक ग्रन्थ :

1. आज का हिन्दी उपन्यास — डॉ. हेमराज कौशिक
ललित प्रकाशन,
29/59 ए, गली नंबर 11
विश्वास नगर, शाहदरा
दिल्ली - 110032
प्रथम संस्करण - 1988.

2. आदिवासी कौन — संपादिकाः- रमणिका गुप्ता
राधाकृष्ण प्रकाशन
जी - 17, जगतपुरी
दिल्ली - 110051
प्रथम संस्करण - 2008.

3. आदिवासीः विकास से विस्थापन — संपादिकाः- रमणिका गुप्ता
राधाकृष्ण प्रकाशन
जी - 17, जगतपुरी
दिल्ली - 110051
प्रथम संस्करण - 2008.

4. उत्तर शती का हिन्दी उपन्यास — डॉ. एन. मोहनन
जवाहर पुस्तकालय,
सदर बाज़ार,
मथुरा (उ.प्र.) - 281001,
प्रथम संस्करण - 2004.

5. उपन्यास की शर्त	जगदीश नारायण श्रीवास्तव किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1993.
6. उपन्यासः स्वरूप और संवेदना	राजेन्द्र यादव वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1997.
7. उपन्यासः स्थिति और गति	डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर। वाणी प्रकाशन नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1993.
8. कथाकार संजीव	संपादकः- गिरीश काशिद शिल्पायन, 10295, लेन न. 1 वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा दिल्ली - 110032 प्रथम संस्करण - 2008.

9.	जंगल जंगल लूट मची है	अमरेन्द्र किशोर राधाकृष्ण प्रकाशन, जी-7, जगतपुरी, दिल्ली - 110051 प्रथम संस्करण - 2005.
10.	बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य	विजय मोहन सिंह राजकमल प्रकाशन 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2005.
11.	भारतीय स्वतंत्रता और हिन्दी उपन्यास	डॉ.शशिभूषण सिंहल आर्य प्रकाशन मंडल, सरस्वति भंडार गाँधीनगर, दिल्ली - 110031 प्रथम संस्करण - 2000.
12.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम और हिन्दी उपन्यास	डॉ.सीताराम झा 'श्याम' हिन्दी प्रचारक प्रकाशन, सी.के. 38/8, आदि विश्वनाथ, वाराणासी - 1. प्रथम संस्करण - 1969.
13.	मुस्लिम मानस और हिन्दी उपन्यास	डॉ. मोहम्मद फिरोज़ खां अनंग प्रकाशन बी-418, गली नं-2, सुभाष विहार, उत्तरी घोण्डा, दिल्ली - 53 प्रथम संस्करण - 2003.

14.	यशपाल : पुनर्मूल्यांकन	संपादक :- डॉ.कुँवरपाल सिंह शिल्पायन 10295, लेन नं - 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली- 110032 प्रथम संस्करण - 2004.
15.	यशपाल : रचनात्मक पुनर्वास की एक कोशिश	मधुरेश आधार प्रकाशन एन.सी.एफ. 267, सेक्टर - 16, पंचकूला - 134 113 हरियाणा। प्रथम संस्करण - 2006.
16.	यशपाल का उपन्यास साहित्य	डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा नवचेतन प्रकाशन, जी - 5, गली नं - 16,राजापुरी, उत्तमनगर, दिल्ली- 110059. प्रथम संस्करण - 2004.
17.	यशपाल के उपन्यास : समस्यामूलक अध्ययन	डॉ. सीलम् वेंकटेश्वरराव सीलम् प्रकाशन, 5-8-104, महेशनगर, नामपल्ली, हैदराबाद - 500001 प्रथम संस्करण - 1983.

18.	राही और उनका रचना संसार	संपादक :- कुँवकपाल सिंह शिल्पायन, 10295, लेन नं - 1, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली- 110032 प्रथम संस्करण - 2004.
19.	राही मासूम रज़ा के उपन्यासों का समाज शास्त्रीय अध्ययन	डॉ.मुहम्मद फंरीदुद्दीन। दीग्दर्शन चरण जैन ऋषभचरज जैन एवम् संतति 4662/21, दरियागंज नईदिल्ली- 110002 प्रथम संस्करण - 1984.
20.	हिन्दी उपन्यास : आज	डॉ. के. वनजा कोची विश्वविद्यालय कोची - 682022 प्रथम संस्करण - 2007
21.	हिन्दी उपन्यासः जनवादी परंपरा	सं : कुँवरपाल सिंह, अजय बिसारिया नवचेतन प्रकाशन, जी - 5, गली नं - 16, राजापुरी, उत्तमनगर दिल्ली - 110059 प्रथम संस्करण - 2004.
22.	हिन्दी उपन्यासः समकालीन परिदृश्य	महीप सिंह लिपि प्रकाशन 1, अंसारी रेड दरियागंज, नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1980.

23.	हिन्दी उपन्यास : समाज और व्यक्ति का द्वन्द्व	डॉ. मंजुला गुप्ता सूर्य प्रकाशन नई सड़क, दिल्ली-6. प्रथम संस्करण - 1986.
24.	हिन्दी उपन्यासः सामाजिक चेतना	डॉ. कुँवरपाल सिंह, पांडुलिपि प्रकाशन, ई-11/5, कृष्णनगर, दिल्ली - 110051.
25.	हिन्दी उपन्यासः 1950 के बाद	सं. : निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी नेशसल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज, नई दिल्ली -110002 प्रथम संस्करण - 1987.
26.	हिन्दी उपन्यास का इतिहास	गोपाल राय राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2002.
27.	हिन्दी के जनजातिमूलक उपन्यासों की समाज शास्त्रीय चेतना और उसका औपन्यानिक प्रतिफलन	डॉ. सरोज अग्रवाल हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 - बी, असफ अली रोड, नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2004.

28.	हिन्दी के महाकाव्यात्मक उपन्यास	सुशीला प्रसाद ब्याहुत। क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी 28, शौपिंग सेंटर करमपुरा, नई दिल्ली - 110015 प्रथम संस्करण - 1994.
29.	हिन्दी के महाकाव्यात्मक उपन्यास	डॉ.पुष्पा कोद्दड़ नचिकेता प्रकाशन 7/19 ए, विजय नगर, दिल्ली - 110009 प्रथम संस्करण - 1987.
30.	हिन्दी के महाकाव्यात्मक उपन्यास	डॉ. शंकर वसंत मुद्गल चन्द्रलोक प्रकाशन 128/106, जी - ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर - 208011 प्रथम संस्करण - 1992.
31.	हिन्दी उपन्यास की दिशाएँ	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ गोविन्द प्रकाशन, सदर बाज़ार, मथुरा (उ.प्र) - 281001, प्रथम संस्करण - 2003.
32.	हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम समाज : आलोचनात्मक अनुशीलन	डॉ. सिराज. के. बहोरा सार्थ प्रकाशन 41, साकेत नगर, भोपाल। प्रथम संस्करण - 2004.

33.	हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति	डॉ. वीना रानी यादव अकादमिक प्रतिभा, 42, एकता अपार्टमेंट गीता कालोनी, नई दिल्ली - 110031 प्रथम संस्करण - 2006.

पत्रिका : -

1.	अकार	नवंबर 2004
2.	अकार	जुलाई 2005
3.	आलोचना	जनवरी/मार्च 1989
4.	आलोचना	जुलाई/सितंबर 2001
5.	आलोचना	अक्टूबर / दिसंबर 2004
6.	आलोचना	जनवरी/मार्च 2005
7.	आलोचना	अक्टूबर/दिसंबर 2008
8.	कथन	जुलाई/सितंबर 2000
9.	कथाक्रम	अक्टूबर/दिसंबर 2006
10.	कथादेश	अक्टूबर 2006
11.	गगनाञ्चल	जनवरी/मार्च 1996
12.	गगनाञ्चल	अप्रैल / जून 2001
13.	गगनाञ्चल	अक्टूबर/दिसंबर 2002
14.	गगनाञ्चल	जनवरी/मार्च 2003
15.	दस्तावेज़	अप्रैल / जून 1996

16.	दस्तावेज़	अक्टूबर/दिसंबर 1998
17.	दस्तावेज़	जुलाई/सितंबर 2000
18.	दस्तावेज़	अक्टूबर/दिसंबर 2000
19.	दस्तावेज़	जुलाई/सितंबर 2001
20.	दस्तावेज़	अक्टूबर/दिसंबर 2001
21.	दस्तावेज़	अप्रैल / जून 2002
22.	नया ज्ञानोदय	मार्च 2004
23.	नया ज्ञानोदय	मार्च 2005
24.	नया ज्ञानोदय	सितंबर 2006
25.	नया ज्ञानोदय	फरवरी 2008
26.	नया ज्ञानोदय	अक्टूबर 2008
27.	नया ज्ञानोदय	दिसंबर 2008
28.	प्रकर	सितंबर 1982
29.	प्रकर	जनवरी 1983
30.	प्रकर	सितंबर 1985
31.	प्रकर	जनवरी 1987
32.	प्रकर	फरवरी 1987
33.	प्रकर	मई 1987
34.	प्रकर	दिसंबर 1987
35.	प्रकर	नवंबर 1990
36.	प्रकर	जनवरी 1993
37.	प्रकर	जून 1993

38.	प्रकर	दिसंबर 1993
39.	प्रकर	अप्रैल 1995
40.	पक्षधर	जनवरी/अप्रैल 2008
41.	भाषा	जनवरी/फरवरी 1992
42.	भाषा	जनवरी/फरवरी 2001
43.	भाषा	मार्च/अप्रैल 2003
44.	भाषा	सितंबर/अक्टूबर 2005
45.	भाषा	जूलाई/अगस्त 2006
46.	भाषा	सितंबर/अक्टूबर 2006
47.	भारतीय लेखक	अप्रैल / जून 2007
48.	मधुमती	दिसंबर 1997
49.	मधुमती	नवंबर 2004
50.	माध्यम	अप्रैल/ जून 2001
51.	वर्तमान साहित्य	अक्टूबर 2004
52.	वर्तमान साहित्य	जनवरी/फरवरी 2006
53.	वर्तमान साहित्य	मई 2006
54.	वर्तमान साहित्य	दिसंबर 2007
55.	वागर्थ	सितंबर 1998
56.	वागर्थ	दिसंबर 1998
57.	वागर्थ	नवंबर 1999
58.	वागर्थ	अगस्त 2000
59.	वागर्थ	दिसंबर 2000

60.	वागर्थ	जनवरी 2001
61.	वागर्थ	सितंबर 2001
62.	वागर्थ	अक्टूबर 2002
63.	वागर्थ	जुलाई 2002
64.	वागर्थ	अक्टूबर 2002
65.	वागर्थ	जनवरी 2003
66.	वागर्थ	जून 2003
67.	वाड्मय	अप्रैल/जून 2004
68.	वाड्मय	जुलाई/सितंबर 2004
69.	वाड्मय	जनवरी/मार्च 2007
70.	समकालीन भारतीय साहित्य	अक्टूबर/दिसंबर 1995
71.	समीक्षा	मार्च/ अप्रैल 1979
72.	समीक्षा	अक्टूबर/दिसंबर 1987
73.	समीक्षा	जुलाई/सितंबर 1989
74.	समीक्षा	जनवरी/मार्च 1991
75.	समीक्षा	अक्टूबर/दिसंबर 1993
76.	समीक्षा	जनवरी/मार्च 1994
77.	समीक्षा	जुलाई/सितंबर 1995
78.	समीक्षा	जनवरी/मार्च 1997
79.	समीक्षा	अप्रैल/जून 1999
80.	समीक्षा	जुलाई/सितंबर 1999
81.	समीक्षा	अक्टूबर/दिसंबर 1999

82.	समीक्षा	जनवरी/मार्च 2000
83.	समीक्षा	जनवरी/मार्च 2001
84.	समीक्षा	अप्रैल/जून 2001
85.	समीक्षा	जनवरी/मार्च 2004
86.	समीक्षा	अप्रैल/जून 2004
87.	समीक्षा	जुलाई/सितंबर 2004
88.	समीक्षा	जनवरी/मार्च 2007
89.	समीक्षा	अप्रैल/जून 2007
90.	समीक्षा	जनवरी/मार्च 2008
91.	समीक्षा	अप्रैल/जून 2008
92.	साक्षात्कार	जुलाई 2000
93.	साक्षात्कार	जून 2003
94.	साक्षात्कार	अप्रैल 2005
95.	साक्षात्कार	सितंबर/अक्टूबर 2006
96.	साक्षात्कार	जून 2007
97.	संग्रथन	फरवरी 1993
98.	संग्रथन	जुलाई 1996
99.	संग्रथन	मई 2006
100.	संग्रथन	दिसंबर 2007
101.	संचेतना	मार्च 2000
102.	संचेतना	मार्च 2003
103.	संचेतना	सितंबर 2004

104. संचेतना	जून 2008
105. हंस	सितंबर 2000
106. हंस	मई 2001
107. हंस	जून 2001
108. हंस	अक्टूबर 2001
109. हंस	अक्टूबर 2006